गाँधी

धर्म और समाज

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)

लेखक

शम्भू रत्न त्रिपाठी

समाजशास्त्र संसद

6 न्यू एम0आई0जी0, 'डब्लू' ब्लाक, जूही, कानपुर–208014

मूल्य : 30 रुपए (तीस रुपए मात्र)

लेखक	:	शम्भू रत्न त्रिपाठी
प्रकाशक	:	समाजशास्त्र–संसद
		6 न्यू एम. आई. जी., डब्लू ब्लाक
		कानपुर–14
मुद्रक	:	आराधना ब्रदर्स, गोविन्द नगर, कानपुर

GANDHI : DHARM AUR SAMAJ

Rs. 30.00

SHAMBHOO RATAN TRIPATHI

गांधी : धर्म और समाज

गाँधी महान् सामाजिक चिन्तक हैं। उनका सामाजिक परिप्रेक्ष्य शाश्वत धार्मिक–आध्यात्मिक मूल्यों से अनुप्राणित है। उनका धर्म सामाजिक धर्म है और समाजशास्त्र आध्यात्मिक समाजशास्त्र है। प्रस्तुत पुस्तक में गाँधी जी के धार्मिक समाजशास्त्र का व्यवस्थित विश्लेषण–विवेचन करने का प्रयास किया गया है। धार्मिक समाजशाास्त्र के क्षेत्र में विश्व के अनेक विद्वानों ने ग्रंथ लिखे हैं; किन्तु उनमें बौद्धिक व्यायाम अधिक है। गाँधी जी के धार्मिक समाजशास्त्र के चिन्तन में अनुभूति और पर्यवेक्षण का अद्भुत समन्वय है। गाँधी जी के चिन्तन को आत्मसात करने के लिए उनकी धार्मिक परिदृष्टि से अवगत होना नितान्त आवश्यक है।

प्राक्कथन

मेरे मत से गाँधी जी अंशतः राजनीतिज्ञ थे, विशेषतः धर्म–तत्व–चिन्तक थे और सर्वांशतः वैज्ञानिक सामाजिक विचारक थे। परिस्थितियों के कारण उन्हें राजनीति को अंगीकार करना पड़ा था। परम्परा और संस्कारों के प्रभाव से वह धार्मिक हुये थे, किन्तु मूल वृत्ति उनकी वैज्ञानिक की थी, स्वभाव उनका सत्य–शोधक का था और अभिरुचि उनकी समाज में थी।

गाँधी जी ने विशुद्ध समाज–वैज्ञानिक के रूप में ही धर्म पर विचार किया। उन्होंने विश्व के प्रमुख धर्मों का सूक्ष्म और तटस्थ पर्यवेक्षण–परीक्षण तथा आकलन–अनुशीलन करके सार्वभौम और सार्वकालिक सत्य–नियम उद्घाटित किए। उनके निष्कर्ष प्रत्येक धर्म और प्रत्येक समाज के लिए व्यवहार्य हैं। संसार के अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि गाँधी जी के सिद्धान्तों के व्यवहार से धार्मिक संघर्ष और विग्रह का उन्मूलन सम्भव है तथा सार्वभौम सामाजिक एकता और शांति भी शक्य है।

गाँधी जी के विचार से धर्म एक सामाजिक तथ्य (Social fact) है – यह समाज की उपलब्धि है, इसका लक्ष्य संश्लिष्ट सामाजिक जीवन है। यह पारलौकिक उद्देश्यों की उपलब्धि का माध्यम नहीं है, अपितु समाज–सेवा का दर्शन है तथा सामाजिक संरचना के नियमों का निकाय है।

सामाजिक जीवन के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक आदि अनेक पक्ष हैं। गाँधी जी के धाार्मिक परिप्रेक्ष्य में समाज के इन समस्त पक्षों का समाहार है, धर्म इन सबकी आधार–भूमि है तथा धर्म के भी बहुमुखी कार्य हैं, जिनमें सामाजिकता के तत्व का निहित होना अनिवार्य आवश्यकता है। इस प्रकार गाँधी जी के अनुसार सामाजिकता से विहीन धर्म और

धार्मिकता से विहीन समाज उदात्त जीवन–प्रणाली और गतिशील–सर्जनात्मक व्यवस्था को जन्म नहीं दे सकता है।

यह कहना अनुचित नहीं है कि समकालीन विनाशोन्मुख समाज को सुरक्षा और निर्माण के लिए ऐसे ही सामाजिक–धार्मिक व्यवहार–दर्शन की अनिवार्य आवश्यकता है।

इस पुस्तक में, गाँधी जी के इसी धार्मिक परिप्रेक्ष्य का समाजशास्त्रीय अनुशीलन करने का प्रारम्भिक प्रयास किया है। आशा है, गाँधी जी की धर्म की वैज्ञानिक–सामाजिक अवधारणा के अनुशीलन में यह पुस्तक किसी सीमा तक अवश्य सहायक होगी।

महाकवि डा0 रामधारी सिंह 'दिनकर'

को

सादर

—लेखक

विषय–सूची

गाँधी : धार्मिक परिप्रेक्ष्य का निर्माण

1. प्रारम्भिक

गाँधी जी के व्यक्तित्व के अनेक पक्षों की चर्चा की जाती है। उन्हें राजनीतिज्ञ, शिक्षाशास्त्री, समाज–सुधारक, अर्थशास्त्री, दार्शनिक, प्राकृतिक चिकित्सक आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया जाता है। किन्तु, उनके विराट व्यक्तित्व के इन विभिन्न पक्षों या रूपों का मुख्य आधार था धर्म। धर्म ही उनकी बहुमुखी क्रियाओं को अनुप्राणित किया करता था। उनका अटल विश्वास था कि धर्म के बिना जीवन और संसार सम्भव नहीं है। वह कहते थे कि जो अपने को नास्तिक घोषित करते हैं, वे भी धार्मिक होते हैं। अतः, गांधी जी को मूलतः धार्मिक कहना उचित ही है।

गाँधी जी धर्म–प्राण व्यक्ति अवश्य थे; किन्तु उनका धर्म सर्वसाधारण की अवधारणा के अनुरूप नहीं था। उन्होंने अपने अध्ययन, चिन्तन और अनुभव के आधार पर धर्म का सच्चा स्वरूप निर्धारित किया था, जिसका वह जीवन–पर्यन्त प्रचार करते रहे और जिसे वह स्वयं भी पालन करते रहे।

प्रस्तुत पुस्तक में गाँधी–धर्म के मौलिक स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि हम उनके इस धार्मिक व्यक्तित्व और चिन्तन को आत्मसात् कर लेंगे, तो हमें उनके अन्य रूपों को समझने में कठिनाई नहीं होगी।

2. गांधी के धार्मिक प्रयोग और पर्यवेक्षण

गाँधी जी मूलतः वैज्ञानिक पद्धति में विश्वास करते थे। उन्होंने प्रत्येक निष्कर्ष की उपलब्धि के लिए वैज्ञानिक विधि का अनुसरण किया। धार्मिक क्षेत्र में भी उन्होंने एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति कार्य किया। धार्मिक क्षेत्र में भी उन्होंने एक सच्चे वैज्ञानिक की भाँति कार्य किया। फलतः, धर्म की जो अवधारणा उन्होंने निश्चित की, वह वैज्ञानिक थी – प्रयोगों, र्प्यवेक्षणों और प्रमाणों पर आधारित था। उनकी इस अवधारणा अर्थात् धर्म सम्बन्धी सत्यों और निष्कर्षों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनके धर्म सम्बन्धी प्रयोगों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लें।

गांधी जी के धार्मिक परिप्रेक्ष्य के निर्माण में कई कारकों ने योग दिया है। यदि हम इन कारकों का विश्लेषण करें तो निम्नाकिंत वर्गों में विभक्त कर सकते हैं –

अ. पारिवारिक पर्यावरण

ब. महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

स. विशिष्ट व्यक्ति

गांधी जी के माता–पिता धर्मनिष्ठ और आस्तिक थे। वे मंदिरों में जाते थे, धर्मचर्चा सुनते थे। अपनी सन्तानों को इन अवसरों पर ले जाते थे। गांधी जी की माता जी विशेष रूप से पूजा–पाठ करती थीं और कठोर व्रतों का भी पालन करती थीं। उनके पिता जी ने जीवन के अन्तिम दिनों में गीता और रामायण के पाठ की व्यवस्था की थी। गांधी जी को भी बचपन में ही इनके सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। बचपन के इस अवसर ने उनके जीवन पर बहुत प्रभाव डाला। वह जीवनपर्यन्त गीता और रामायण के परम भक्त रहे। बचपन के इन प्रारम्भिक

संस्कारों ने गहरी जड़ें जमाईं। फलतः, वह आजीवन हिन्दू रहे और हिन्दू–धर्म से उन्हें कोई विचलित नहीं कर सका।

गांधी जी के पारिवारिक जीवन की परिस्थितियों से ज्ञात होता है कि उनके माता–पिता परम वैष्णव हिन्दू थे; किन्तु उनमें कट्टरता या असहिष्णुता नहीं थी। वे अपने धर्म में पूर्ण आस्था रखते थे; किन्तु दूसरे धर्मों और सम्प्रदायों का अनादर नहीं करते थे। वैष्णव होते हुए भी शिव और राम के मन्दिरों में भी जाते थे। गांधी जी के पिता के पास जैन, मुसलमान और पारसी लोग आते थे, जिनमें कुछ उनके मित्र थे। यह लोग परस्पर अपने–अपने धर्म की चर्चा किया करते थे। गांधी जी को अपने अस्वस्थ पिता की सेवा के लिए वहाँ उपस्थिति रहना पड़ता था। अतः वह भी इस पर्यावरण से प्रभावित होते रहे। उन्होंने यहाँ पर यह सीखा कि विभिन्न धर्मावलम्बी अपने धर्म में विश्वास रखते हुए एक दूसरे के मित्र हो सकते हैं और एक–दूसरे के प्रति आदर का भाव रख सकते हैं। बाल्यावस्था के इस प्रभाव ने भी उनकी धार्मिक विचारधारा के निर्माण में बहुत बड़ा योगदान किया।

गांधी जी के परिवार के धार्मिक पर्यावरण ने उन पर दो प्रभाव डाले– 1. धर्म के प्रति आस्था तथा 2. अन्य धर्मों के प्रति जिज्ञासा। यह दोनों तत्त्व विलायत और अफ्रीका जाने पर विशेष विकसित हुए। वहाँ पर ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, जिनके कारण हिन्दू–धर्म तथा अन्य धर्मों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुशीलन की प्रेरणा मिली। विलायत में थियोसाफिस्ट मित्रों के सम्पर्क और प्रेरणा से 'गीता' और आर्नाल्ड कृत 'बुद्धचरित' का अध्ययन किया। ब्लैवेटस्कीकृत 'की टू थियोसाफी' पढ़ी, जिससे हिन्दू–धर्म सम्बन्धी कुछ भ्रमों का निवारण हुआ। बचपन में ईसाई धर्म के प्रति उनके मन में अरुचि उत्पन्न हो गई थी; किन्तु यहाँ पर एक ईसाई सज्जन ने उनसे बाइबिल पढ़ने का आग्रह किया। फलतः उन्होंने 'ओल्डटेस्टामेण्ट' और 'न्यूटेस्टामेण्ट', दोनों पढ़े। 'ओल्डटेस्टामेण्ट' से तो वह बिल्कुल प्रभावित नहीं हुए, किन्तु

'न्यू टेस्टामेण्ट' ने उनके मन को छू लिया। विशेषतः ईसा के 'गिरिप्रवचन' ने उनके मन पर अमिट छाप छोड़ी। उन्हें गीता, बुद्ध और ईसा की वाणी और विचारों में बड़ी समानता प्रतीत हुई। इसके उपरान्त उनके मन में अन्य धर्मों के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न हुई, जो उन्होंने कार्लाइल की 'हीरोज़ एण्ड हीरो वर्शिप' नामक पुस्तक पढ़कर आंशिक रूप से शान्त की। इस पुस्तक में मुहम्मद साहब का प्रकरण पढ़कर विशेष प्रभावित हुए। धर्म को जानने के लिए उन्होंने नास्तिकों के विचारों से भी अवगत होना आवश्यक समझा। अतः उस समय के विख्यात नास्तिक विचारक ब्रैडला की पुस्तकें पढ़ीं, जिनसे वह बिल्कुल प्रभावित नहीं हुए।

कानून की पढ़ाई में व्यस्त रहने के कारण इच्छा रहते हुए भी वह विलायत में धर्म–ग्रंथों का अनुशीलन अधिक नहीं कर सके। कुछ वर्षों बाद जब वह दक्षिणी अफ्रीका गये, तो उन्हें पुनः धर्मानुशीलन का अवसर मिला। जब वह अफ्रीका गए, तो उस समय तक उनके मन में सभी धर्मों के सम्बन्ध में जानकारी की इच्छा जाग उठी थी। उनकी इस जिज्ञासु वृत्ति का अन्य धर्म के लोगों ने यह अर्थ लगाया कि वह धर्म–परिवर्तन करना चाहते हैं। अतः, उनके मुसलमान मित्र मुसलमान धर्म की विशेषताओं को बताकर उन्हें ललचाते थे; ईसाई अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ बता कर आकर्षित कर रहे थे और थियोसाफिस्ट अपने सम्प्रदाय के प्रति मोह उत्पन्न करना चाहते थे। वास्तविकता यह थी कि गाँधी जी धर्म की वास्तविकता की खोज के लिए विभिन्न धर्मों का परिचय प्राप्त करना चाहते थे। अतः वह सबकी बात ध्यान से सुनते थे और स्वाध्याय भी कर रहे थे। उन्होंने इस काल में मैक्सूलर कृत 'इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस', थियोसाफिकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदों की टीका, वाशिंगटन अरविंग कृत 'मुहम्मद साहब की जीवनी', 'जरथुस्त के वचन' तथा टाल्सटाय की अनेक पुस्तकें पढ़ीं। थियोसाफिस्टों के आग्रह से 'पातंजलियोगदर्शन', 'गीता', 'राजयोग' का अध्ययन किया। गीता के तेरह अध्याय कंठस्थ किए। गीता के इस सूक्ष्म अध्ययन ने गाँधी जी के व्यक्तित्व को बहुत

प्रभावित किया। वह गीता के सिद्धान्तों को अपने व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करने लगे। अब गाँधी जी की विचारधारा एक निश्चित पथ की ओर अग्रसर हो चुकी थी। इसी समय मि0 पोलाक ने गाँधी जी को रस्किन की 'अण्टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक पढ़ने को दी। इसमें उनको वह मिल गया, जिसके लिए वह इतने दिनों से परेशान थे। इसने उनके विचार और व्यवहार के मार्ग को प्रशस्त कर दिया। इसमें बताई हुई बातों को उन्होंने आचरण में उतारना शुरू कर दिया। इस पुस्तक में उन्हें तीन बातें स्पष्ट हुई– ''1. सबकी भलाई में हमारी भलाई निहित है; 2. वकील और नाई दोनों की कीमत एक–सी होनी चाहिए; क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको एक–सा है तथा 3. सादा मेहनत मजदूरी का किसान का जीवन ही सच्चा है।'' गाँधी जी का कहना है कि इन सिद्धान्तों के बोध से उनके जीवन में प्रभात हुआ।

उपर्युक्त विवरण का यह आशय नहीं है कि गाँधी जी ने केवल इतना ही अध्ययन किया। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान और ईसाई धर्मों के और भी अनेक ग्रंथ पढ़े। बचपन में उन्होंने 'श्रवणकुमार' नाटक पढ़ा था जिसमें उनमें माता–पिता के प्रति आदर–भावना सुदृढ़ हुई। 'मनुस्मृति' की टीका पढ़ी; किन्तु कुछ प्रभाव नहीं डाल सकी। इसमें संसार की उत्पत्ति, और खाद्याखाद्य के प्रसंग उनकी बुद्धि से समझौता नहीं कर सके। उन्होंने 'पंचीकरण', 'मणिरत्नमाला', योगवासिष्ठ 'मुमुक्ष प्रकरण', 'हरिभद्र सूरिका', 'षडदर्शन समुच्चय' आदि हिन्दुओं के अनेक तत्त्वदर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्होंने नर्मदशंकर की 'धर्म–विचार' पुस्तक को बहुत ध्यान से पढ़ा, और इसने उनके हृदय को विशेष प्रभावित किया। इसमें नर्मदशंकर के विलासी जीवन में होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख था। दक्षिणी अफ्रीका में गाँधी जी ने ईसाइयों के सम्पर्क से ईसाई धर्म की बहुत पुस्तकें पढ़ीं। उन्होंने लिखा है कि मि0 कोट्स ने उनको किताबों से लाद दिया, जिन्हें उन्होंने श्रद्धा से पढ़ा और ईसाई मित्रों से

उनके सम्बन्ध में विचार–विमर्श भी किया। इस प्रकार गाँधी जी का धर्मशास्त्रों का अनुशीलन व्यापक, बहुमुखी और सूक्ष्म रहा।

गाँधी जी के धार्मिक परिप्रेक्ष्य के निर्माण में कुछ विशेष व्यक्तियों का विशेष प्रभाव पड़ा। बाल्यावस्था में उनकी माता जी के तपोनिष्ठ जीवन ने उनके मन में धर्म का बीजारोपण किया। वह अपनी माता के धर्मनिष्ठ आचरण से बहुत प्रभावित थे। वह जब विलायत जा रहे थे, तो उनकी माता जी ने मांस न खाने, मदिरा न पीने, पर स्त्री–सम्पर्क न करने की प्रतिज्ञा कराई थी। गाँधी जी ने विषम–से–विषम परिस्थितियों में भी इन तीनों प्रतिज्ञाओं का पालन किया। गाँधी–परिवार वैष्णव धर्मावलम्बी था। वैष्णव सम्प्रदाय में भक्ति, त्याग, दया, सात्विक आचरण, व्रत और उपवास पर विशेष जोर दिया जाता है। गाँधी जी के पिता की अपेक्षा माता जी अधिक धर्म–कर्म में व्यस्त रहती थीं। व्रत और उपवास बहुत रखती थीं। गाँधी जी के जीवन पर अपनी माता का ही अधिक प्रभाव पड़ा। फलतः आजीवन सच्चे वैष्णव ही भाँति जीवनयापन किया। उनके अन्तर मन में प्रारम्भ में ही वैष्णव धर्म का अमिट प्रभाव पड़ चुका था, जो आगे चलकर उनके जीवन–दर्शन के रुप में विकसित हुआ। गाँधी जी ने अपनी आत्मकथा में अपनी धाय रम्भाबाई का उल्लेख करते हुए लिखा है कि रम्भाबाई ने ही उन को राम नाम का मन्त्र दिया। बचपन में उन्हें भूत–प्रेतों आदि का डर लगा करता था। रम्भा ने इसके लिए राम–नाम जपने को कहा। रम्भा पर बहुत विश्वास था, अतः वह राम–नाम जपने लगे। इससे उनको जीवन में बहुत सहायता मिली। उन्होंने लिखा है – ''आज राम–नाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है।''

विलायत जाने तक गाँधी जी ने धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ ग्रहण किया, वह सब अचेतन रूप में था; किन्तु विलायत पहुँचने पर उन्होंने इस दिशा में प्रयत्न किया। वहाँ पर सबसे पहले उनका सम्पर्क दो थियोसाफिस्ट भाइयों से हुआ। उन्होंने उनको गीता तथा

हिन्दुओं के अन्य धर्म–ग्रन्थों के पढ़ने की ओर उन्मुख किया। थियोसाफिस्टों के सम्पर्क से उन्हें यह लाभ हुआ कि हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में उनकी कुछ भ्रान्त धारणाओं (जो ईसाई पादरियों के कारण उनके मन में उत्पन्न हुई थीं) का निवारण हुआ। इसी प्रकार ईसाई धर्म के सम्बन्ध में उनके मन में कुछ भ्रम उत्पन्न हो गया था, जो मैनचेस्टर के एक भद्र ईसाई के सम्पर्क से दूर हुआ तथा उससे बाईबिल के सूक्ष्म अध्ययन की प्रेरणा भी मिली। विलायत में धर्म सम्बन्धी सम्पर्क साधारण ही रहा, क्योंकि कानून की पढ़ाई के कारण इसके लिए उन्हें अधिक अवकाश नहीं मिलता था। दक्षिणी अफ्रीका जाने पर उन्हें धार्मिक व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का विशेष अवसर मिला। यहाँ पर उन्हें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों का निकट से परिचय मिला। गाँधी ने लिखा है कि अब्दुला सेठ के सहवास से उन्हें इस्लाम धर्म का व्यावहारिक ज्ञान काफी मिला। दूसरे व्यक्ति अब्दुला सेठ के वकील मि0 बेकर थे, जिनके साथ गाँधी जी को अब्दुला सेठ के मुकदमें के सम्बन्ध में काम करना था। मि0 बेकर वकील के साथ–साथ कट्टर पादरी भी थे। गाँधी जी ने उनसे यह इच्छा व्यक्त की कि वह अपने धर्म के साथ–साथ दूसरे धर्मों की भी जानकारी करना चाहते हैं। मि0 बेकर उन्हें ईसाई प्रार्थना–समाज में ले जाने लगे, जहाँ उनका अन्य ईसाइयों से भी परिचय हुआ। फलतः, उन्हें ईसाई धर्म को सूक्ष्म रूप से देखने का अवसर प्राप्त हुआ। विशेष रूप से मि0 कोट्स के सम्पर्क से उन्हें विशेष ज्ञान हुआ। डरबन में, दक्षिणी अफ्रीका मिशन के मुखिया मि0 स्पेंसर वाल्टन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। इस सम्बन्ध से गाँधी जी की धर्म सम्बन्धी जिज्ञासा जाग्रत रही। गाँधी जी सभी धर्मों के आचार्यों से मिलते थे, लेकिन इनमें जितना वह रायचन्द भाई से प्रभावित हुए थे, उतना अन्य किसी से नहीं। उनके गम्भीर शास्त्र–ज्ञान और शुद्ध सात्विक आचरण ने गाँधी जी के मन में उनके प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। फलतः, वह अपनी आध्यात्मिक समस्याओं के लिए रायचन्द भाई से प्रकाश प्राप्त करते रहते

थे। दक्षिणी अफ्रीका में रहते भी वह पत्रों द्वारा उनसे सम्पर्क रखते थे। दक्षिणी अफ्रीका में जब ईसाई और मुसलमान अपने–अपने धर्मों की विशेषताओं का उल्लेख करके उन को धर्म–परिवर्तन करने के लिए प्रेरित कर रहे थे, तब रायचन्द भाई के पत्र ने उन्हें हिन्दू–धर्म पर टिके रहने की शक्ति दी। इसके अतिरिक्त उन्होंने पत्रों और पुस्तकों द्वारा गाँधी जी की हिन्दू–धर्म–सम्बन्धी आस्था को सुदृढ़ किया। गाँधी जी ने अपने धार्मिक और आध्यात्मिक सम्पर्कों में रायचन्द भाई को सर्वोपरि स्थान दिया है। दक्षिणी अफ्रीका में 1903 की यात्रा में वह मि0 रीच के माध्यम से थियोसाफिस्टों के अधिक सम्पर्क में आये। इस सम्पर्क से उन्हें गीता तथा अन्य धर्मगग्रंथों के तात्त्विक अनुशीलन की प्रेरणा मिली तथा आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति जाग्रत हुई।

गाँधी जी के धार्मिक परिप्रेक्ष्य के निर्माण में जो प्रयोग और पर्यवेक्षण हुए उनकी यह संक्षिप्त कहानी है। इन प्रयोगों का विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होता है कि गाँधी जी की धर्म सम्बन्धी दृष्टि शुद्ध वैज्ञानिक रही है। वह अन्धविश्वासों और रूढ़ियों से निर्देशित नहीं हुए। वह धर्म की वास्तविकता या सत्यता का ज्ञान करना चाहते थे और फिर उसका अनुसरण करना चाहते थे। वह जन्म से हिन्दू थे; किन्तु हिन्दू–धर्म में कुछ ऐसी बुराइयाँ थीं, जिनके कारण उनके मन में सन्देह होता था। जब वह ईसाई, मुसलमान और थियोसफिस्ट धर्म के निकट पहुंचे, तो उनकी वैज्ञानिक दृष्टि को वहाँ भी दोष दृष्टिगोचर हुए, कोई भी धर्म उन्हें पूर्ण नहीं मालूम हुआ। लेकिन गाँधी जी ने अन्य धर्मों का निरीक्षण करते समय किसी पूर्वाग्रह या छिद्रान्वेषक की दृष्टि से काम नहीं लिया। उन्होंने सभी धर्मों का अनुशीलन तटस्थ दृष्टि से किया। फलतः सब धर्मों में अच्छी बातें मिलीं और सब धर्मों में आधारभूत एकता भी मिली। सब धर्मों के निरीक्षण के पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अन्य धर्मों की समस्त अच्छी बातें हिन्दू धर्म में हैं, तथा कुछ ऐसी बातें भी हिन्दू धर्म में हैं, जो अन्य धर्मों में नहीं है। इस सम्बन्ध

में उन्होंने स्पष्ट व्याख्या भी की है, जिसका विवेचन हम आगे करेंगे। यहाँ पर सारांश के रूप में, हम इतना ही कहना चाहते हैं कि गाँधी जी के हिन्दू–धर्मावलम्बी बने रहने में बहुत कुछ उनके बचपन के पड़े संस्कारों का प्रभाव था, जैसा कि उनके हिन्दू–धर्म–सम्बन्धी लेखों से पता चलता है। दूसरे, उन्हें हिन्दू धर्म की तुलना में कोई अन्य धर्म श्रेष्ठ या पूर्ण नहीं प्रतीत हुआ। तीसरे, उन्हें यह विश्वास हो गया था कि हिन्दू–धर्म में भी ऐसे अच्छे सिद्धान्त या नियम हैं, जिनका पालन करने से मनुष्य अपनी आत्मा को ऊंचा उठा सकता है, चरम सत्य की उपलब्धि कर सकता है तथा अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। चौथे, हिन्दू धर्म में अन्य धर्मों की तरह ही बुराइयां हैं, जिनको दूर किया जा सकता है। पांचवें, अन्य धर्म की अच्छी बात को अपने धर्म में सम्मिलित करना अधर्म नहीं है। गाँधी जी के इन आधारभूत निष्कर्षों ने गाँधी जी के धार्मिक परिप्रेक्ष्य को मूलतः हिन्दू धर्म से प्रभावित रखा। किन्तु उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित हिन्दू धर्म को ज्यों का त्यों नहीं स्वीकार किया। उन्होंने अपनी आत्मा और बुद्धि के सहारे उसके वास्तविक रूप को खोजा, उसके अनेक दोषों का परित्याग किया और उसके परिष्कृत रूप को अपने मन, वचन और कर्म से अपनाया। उनके इस परिष्कृत परिप्रेक्ष्य का किसी धर्म, वर्ग या सम्प्रदाय से कोई विरोध नहीं था तथा यह मनुष्य ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण प्राणिमात्र के कल्याण का समर्थक और पोषक था।

2

गाँधी : धर्म की अवधारणा

1. प्रारम्भिक

गाँधी जी के पूर्व धर्म पर बहुत अधिक विचार हो चुका था; किन्तु फिर भी उन्हें इस पर पुनः विचार करना पड़ा। इसका कारण यह था कि उन्होंने तत्कालीन समाज और इतिहास में धर्म का जो रुप देखा, उसमें संघर्ष, शोषण, अनैतिकता, पाखण्ड, अन्धविश्वास आदि का आधिक्य था, तथा धर्म का वास्तविक रूप इन्हीं दोषों से आच्छादित था। गाँधी जी ने विश्व के विभिन्न प्रमुख धर्मों का सूक्ष्म अध्ययन किया, तो उन्हें बोध हुआ कि सर्व साधारण में धर्म की जो अवधारणा प्रचलित है, वह नितान्त भ्रामक है। अतः, उन्होंने अपने प्रयोगों और निष्कर्षों के आधार पर धर्म की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। उनकी वह व्याख्या किसी एक शास्त्रीय ग्रंथ या विस्तृत निबन्ध में नहीं उपलब्ध है, अपितु इसके लिये हमें उनके सम्पूर्ण साहित्य का निरीक्षण करना होगा और उसके द्वारा गाँधी जी की धर्म की अवधारणा को निश्चित करना होगा।

सैद्धान्तिक रूप से धर्म में तीन तत्त्व होते हैं 1. पवित्र विश्वास, 2. संवेग तथा 3. आचरण। ये तत्त्व प्रत्येक धर्म में मिलते हैं, किन्तु इनका स्वरूप देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार भिन्न–भिन्न होता है। इन तत्त्वों के स्वरूपों की भिन्नता के कारण ही धर्मों में भिन्नता परिलक्षित होती है। यहाँ पर हम यह विचार करेंगे कि गाँधी जी की धर्म की अवधारणा में इन तीनों तत्त्वों के क्या स्वरूप हैं?

2. पवित्र विश्वास

विश्वास के अन्तर्गत वे बातें आती हैं, जिन्हें प्रत्यक्ष रूप से देखा नहीं जा सकता है, अपितु केवल अनुभव किया जा सकता है तथा तर्क से प्रमाणित किया जा सकता है। धर्म में ऐसे विश्वास आधार का कार्य करते हैं, अर्थात् धर्म ऐसे ही विश्वासों पर आश्रित होता है।

गाँधी जी की धर्म की अवधारणा में भी कुछ ऐसे पवित्र विश्वासों का आधारभूत स्थान है। उनका अटल विश्वास है कि ईश्वर है, जो एक रहस्यमयी शक्ति के रूप में सर्वत्र व्याप्त है, जिसे अनुभव किया जा सकता है, किन्तु देखा नहीं जा सकता है। इससे सम्बन्धित उनका दूसरा विश्वास है कि यह शक्ति संसार में सृजन, परिवर्तन, संहार और पुनः सृजन का कार्य करती है, अर्थात् संसार के प्रत्येक छोटे–बड़े कार्य को संचालित करती है। तीसरा विश्वास यह है कि यह शक्ति नियमों या कानूनों के रूप में व्यक्त होती है; जो अटल और अपरिवर्तनीय हैं। इस प्रकार नियम या कानून तथा ईश्वर में कोई भिन्नता नहीं है। विज्ञान में सत्य अपरिवर्तनीय नियम को कहते हैं। अतः गाँधी जी प्रकारान्तर से सत्य को ईश्वर मानते हैं। चौथा विश्वास है कि इस सर्वोच्च शक्ति के नियमों को मनुष्य पूर्ण रूप से समझ नहीं सकता है। पाँचवाँ विश्वास है कि संसार की बुराइयाँ या विपत्तियाँ इन स्थायी नियमों के भंग करने से होती हैं। यदि कष्टों से बचना है और आनन्द की उपलब्धि करनी है, (जिसके लिए प्रत्येक मनुष्य इच्छुक है) तो इन शाश्वत नियमों अर्थात् सत्य के अधिक–से–अधिक निकट पहुंचना चाहिये। गाँधी जी का विश्वास है कि सत्य की प्राप्ति अर्थात् शाश्वत आनन्द की उपलब्धि के लिये ही मनुष्य का अस्तित्व है।

3. मानवीय संवेग

पवित्र विश्वासों से सम्बन्धित कुछ संवेग होते हैं, जो धार्मिक भावना को सुदृढ़ करते हैं। ये संवेग प्रेम, श्रद्धा, घृणा, भय आदि हैं। प्रत्येक धर्म में कुछ विशेष प्रकार के संवेगों का प्राधान्य होता है। उदाहरण के लिए आदिवासियों में धर्म के पालन में भय का संवेग प्रमुख होता है। वे लोग दैवी शक्ति को प्रसन्न करने के लिये, और उसके कोप से बचने के लिये पूजा–पाठ करते हैं। इसी प्रकार मुसलमानों में दोजख का भय ही धर्मपालन के लिए प्रेरक का कार्य करता है।

गाँधी जी की धार्मिक भावना में भय या लालच का स्थान नहीं है। इसमें श्रद्धा की प्रधानता है। उनका विश्वास है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर पर श्रद्धा करनी चाहिए और उसी पर निर्भर रहना चाहिए। वह कहते हैं, ''ईश्वर हमारे साथ है और वह हमारी संभाल इस तरह करता है, मानों उसे और किसी की चिन्ता करनी ही नहीं है। यह कैसे होता है, सो मैं नहीं जानता। यह जरूर जानता हूँ कि ऐसा निश्चित रूप से होता ही है। जिनमें यह श्रद्धा है, उनके कंधों से सारी चिन्ताओं का भार उठ जाता है।'' उन्होंने अपनी श्रद्धा की भावना को अनेक स्थलों पर असीम विश्वास के साथ व्यक्त किया है। उनका विचार है कि ईश्वर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में है। यदि कोई व्यक्ति उसका साक्षात्कार करना चाहता है, तो उसे पहले जीवित श्रद्धा का विकास करना चाहिये। जिस व्यक्ति में श्रद्धा का जितना अधिक विकास होगा, वह उतना ही अधिक ईश्वर के निकट पहुंचेगा। वह यह भी कहते हैं कि प्रत्येक असम्भव कार्य श्रद्धा द्वारा सम्भव हो सकता है। उनका विश्वास है, चूँकि श्रद्धा किसी बाह्य प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती है, अतः सबसे सुरक्षित मार्ग संसार के नैतिक शासन में सत्य और प्रेम के नियम की सर्वोपरिता में विश्वास करना है। इस प्रकार वह श्रद्धा के साथ प्रेम–संवेग को भी जोड़ देते हैं। उनका प्रेम किसी राष्ट्र या जाति के व्यक्तियों तक सीमित नहीं है, अपितु उसका

विस्तार सम्पूर्ण प्राणिमात्र में है। यह प्रेम किसी भी प्रकार के भेदभाव को स्वीकार नहीं करता है। उनके प्रेम में पापी को वही स्थान है, जो पुण्यात्मा के लिए है, नास्तिक के लिये वही प्रेम है, जो आस्तिक के लिए है; क्योंकि वह कहते हैं कि पापी और नास्तिक से घृणा नहीं होनी चाहिये, अपितु पाप और नास्तिकता अग्राह्य हैं। अतः, पापी और पुण्यात्मा को समान दृष्टि से देखना चाहिये; क्योंकि ईश्वर की दृष्टि में पापी और पुण्यात्मा में कोई भेद नहीं है, दोनों समान हैं, दोनों को समान न्याय प्राप्त होता है और दोनों को समान अवसर प्राप्त होते हैं। जो सन्त या पुण्यात्मा अपने को पापी से श्रेष्ठ समझते हैं या उससे घृणा करते हैं, वे पापी से भी बुरे हैं।

इस प्रकार गाँधी जी की धर्म की अवधारणा में श्रद्धा और प्रेम–संवेग की प्रमुखता है, तथा घृणा, द्वेष, भय आदि के लिये कोई स्थान नहीं है।

गाँधी जी की श्रद्धा अन्धी नहीं है। वह धर्म के प्रत्येक पक्ष को आंख बन्द करके ग्रहण नहीं करते हैं, जैसा कि प्रायः अधिकाँश धर्मों में प्रचलित है। प्रायः देखा जाता है कि लोग धर्म के क्षेत्र में तर्क और बुद्धि के प्रवेश को वर्जित कर देते हैं, और पूर्ण रूप से संवेगों के अधीन हो जाते हैं। जो कुछ भी धर्म–ग्रन्थों या पैगम्बरों की वाणी में मिलता है, उसे अक्षरशः सत्य मान कर चलते हैं, भले ही वह उचित हो या अनुचित। गाँधी जी का विचार है कि धर्म के क्षेत्र में निर्णायक बुद्धि से काम लेना चाहिये। धर्म–ग्रन्थों के निर्देशों को बुद्धि पर आधिपत्य नहीं करने देना चाहिये; क्योंकि धर्म–ग्रंथ या पैगम्बरों की वाणी सीधे ईश्वर के यहाँ से नहीं आती है, उसके पीछे ईश्वर की प्रेरणा अवश्य होती है। चूंकि धार्मिक बातें मनुष्य के माध्यम से आती हैं, इसलिये उनमें दोषों की सम्भावना होती है। इन दोषों के प्रति बुद्धि को सावधान रहना चाहिये। वह कहते हैं, ''मैं किसी ऐसे धार्मिक सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता, जो बुद्धि को न जँचे और नैतिकता के विरुद्ध हो।''

''मैं गीता सहित प्रत्येक धर्म–ग्रंथ के बारे में अपने विवेक से काम लेता हूँ। मैं धर्मशास्त्र के किसी भी वचन को अपनी बुद्धि की उपेक्षा नहीं करने दे सकता हूँ।'' किंतु इसका यह भी आशय नहीं है कि गाँधी नितांत बुद्धिवादी हैं। वह बुद्धि के दुरुपयोगों से परिचित हैं। अतः वह बुद्धि और नैतिकता तथा बुद्धि और श्रद्धा में अन्ततः नैतिकता और श्रद्धा को ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार गाँधी जी की धार्मिक अवधारणा में संवेगों और बुद्धि का संतुलन है। इस संतुलन के कारण वह ईसाइयों, मुसलमानों और हिंदुओं के दीर्घकाल से चले आने वाले अनेक विश्वासों को स्वीकार नहीं कर सके। उदाहरण के लिये उनके लिये वेद, कुरान, बाइबिल ईश्वर वाणी नहीं हैं, अपितु ईश्वर–प्रेरित अवश्य हैं; केवल ईसामसीह ही ईश्वर–पुत्र नहीं हैं, बल्कि सब मनुष्य उसकी संतान हैं।

4. आचरण और क्रियायें

प्रत्येक धर्म में लक्ष्य–पूर्ति के लिए कुछ आचरण निर्धारित होते हैं। इन आचरणों के अनेक रुप विभिन्न धर्मावलम्बियों में देखने को मिलते हैं। ईसाई गिरजाघरों में ईसा की मूर्ति के सामने विशेष प्रकार से प्रार्थना करते हैं। मुसलमान मस्जिद में विशेष विधि से नमाज पढ़ते हैं। हिन्दू मन्दिरों में पूजा करते हैं। पूजा–पाठ, आराधना, साधना के अनेक नियम और पद्धतियाँ हैं। हिन्दुओं में ही मोक्ष–प्राप्ति के लिये अनेक प्रकार की रीतियाँ हैं। शैव, वैष्णव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि भिन्न–भिन्न पद्धतियों के अनुयायी हैं। प्रत्येक धर्मावलम्बी अपनी–अपनी पद्धति को ही श्रेष्ठ या उचित मानता है।

गाँधी जी की धर्म की अवधारणा में इन आचरणों और पद्धतियों का स्थान है; किन्तु इनके सम्बन्ध में उनका अपना दृष्टिकोण बहुत भिन्न है। यद्यपि वह हिन्दू थे, और हिन्दू धर्म में उनका विश्वास था; किन्तु उनका अन्य धर्मों के प्रति अविश्वास नहीं था। हिन्दू–धर्म में आस्था

रखते हुए भी वह इसकी आचरण सम्बन्धी रूढ़ियों, पाखण्डों या भ्रान्तियों के अन्धानुयायी नहीं थे। इसी प्रकार वह अन्य धर्मों के उचित और अनुचित सभी प्रकार के नियमों या रूढ़ियों से सहमत नहीं होते थे। उन्होंने धार्मिक आचरण के सम्बन्ध में एक मानदण्ड स्थिर किया था, जिसके अनुसार वह किसी आचरण के औचित्य का निर्णय करते थे और यह था नैतिक आचरण। उनका मत था कि कोई भी धार्मिक आचरण अनैतिक नहीं होना चाहिये, भले बुद्धि–संगत न हो। नीति–विरुद्ध आचरण किसी भी दशा में धार्मिक आचरण नहीं है। यदि किसी व्यक्ति के आचरण में असंयम या निर्दयता या झूठ आदि का समावेश है, तो उसका आचरण नितान्त धर्म–विरुद्ध है। गाँधी जी के धर्म में विश्व के व्यवस्थित नैतिक शासन में विश्वास होना और उसके अनुसार आचरण करना पहली शर्त है। धार्मिक कर्म–काण्डों आदि के सम्बन्ध में उनका यही सिद्धान्त निर्णायक है। उनकी दृष्टि में कोई धार्मिक क्रिया, आचार, संस्कार व्यक्तिगत स्वार्थ, सिद्धि या लोभ से किया जाता है, तो वह अनुचित है; किन्तु यदि कोई क्रिया निष्काम भाव से की जाती है, तो वह बुद्धि–संगत न होने पर भी उचित है। जैसे मूर्ति–पूजा, वृक्ष–पूजा आदि के वह समर्थक भी हैं और विरोधी भी हैं। वह मूर्तियों को देवता मानना अनुचित समझते हैं; किन्तु ईश्वर के प्रतीक या माध्यम के रूप में मूर्ति–पूजा से उनका कोई विरोध नहीं है। गौ–पूजा में उन्हें जीव–मात्र के प्रति दया या अहिंसा का भाव निहित प्रतीत होता है। राम, कृष्ण, ईसा आदि दैवी यानी सद्प्रवृत्तियों के प्रतीक या आदर्श हैं, न कि भगवान या देवता हैं। उनकी दृष्टि में किसी भी धर्म कीआराधना–पद्धति अनुचित और निरर्थक नहीं है, बशर्ते वह शुद्ध सात्विक और निःस्वार्थ भाव से ईश्वर के निकट पहुँचने के लिए की जाती हो तथा उसमें पाखण्ड या प्रदर्शन का भाव न हो। गाँधी जी ने स्वयं विभिन्न धर्मों की आराधना–प्रणालियों को निकट से देखकर तथा अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले थे, जिनके पालन से मनुष्य सत्य अर्थात् ईश्वर के अधिक–से–अधिक निकट

पहुँच सकता है। इस आराधना–प्रणाली में किसी साज–सामान, आडम्बर आदि का कोई स्थान नहीं है। यह हृदय की प्रणाली है, नीति पर आधारित है तथा आत्म–संयम से सम्बन्धित है। इसके साधक को 1. सत्य, 2. अहिंसा, 3. ब्रह्मचर्य, 4. अपरिग्रह, 5. अस्तेय, 6. अस्वाद के व्रतों का कठोरता पूर्वक पालन करना चाहिए। इन व्रतों के पालन में उपवास और प्रार्थना से बहुत सहायता मिलती है। इन व्रतों का पालन ही धर्माचरण है और इनका उल्लंघन अधर्म है। कोई व्यक्ति प्रार्थना में सारा समय लगा देता है और उपवास से शरीर को गला देता है; किन्तु उक्त व्रतों का पालन नहीं करता है, तो वह धार्मिक कहलाने का अधिकारी नहीं है। प्रार्थना की प्रणाली के सम्बन्ध में वह व्यक्ति को किसी बन्धन में नहीं डालते हैं। जो चाहे, जिस रीति और जिस स्थान में प्रार्थना करे; किन्तु प्रार्थना निष्काम होनी चाहिए। इस प्रकार गाँधी जी की धर्म–पद्धति में सब धर्मों और सम्प्रदायों को स्थान मिल जाता है। अभी तक धार्मिक संघर्ष मुख्यतः आराधना–प्रणालियों के लेकर हुए हैं। गाँधी जी के सार्वभौम धर्म में इस संघर्ष के लिए कोई आधार नहीं रहा। उन्होंने अपने इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप में दिखा दिया। उनके आश्रम में सभी सम्प्रदायों और धर्मों के व्यक्ति एक साथ रहे। उनकी प्रार्थना सभाओं में हिन्दू, मुसलमानों, ईसाई, सिक्ख, पासी सभी धर्मों के लोग भाग भी लेते रहे।

5. निष्कर्ष

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि गाँधी जी नीति–निर्देशित समन्वयात्मक धर्म के प्रतिपादक और पोषक हैं, जिसमें असद्वृत्तियों से किसी प्रकार समझौता नहीं है तथा किसी भी धर्म की सद्प्रवृत्ति का सदा स्वागत है– हिन्दुओं की निष्काम साधना, बौद्धों की अहिंसा, ईसाइयों की विनम्रता, थियोसाफिस्टों की विश्वबंधुता, मुसलमानों की एक ईश्वरवादिता का समाहार है; इसमें निर्गुण और सगुण उपासक, निराकार और साकार साधक, नास्तिक और आस्तिक, स्वधर्मी और विधर्मी, पापी और पुण्यात्मा सबके लिये स्थान है; यह बुद्धि का समर्थक

भी है और श्रद्धा का आराधक भी है, सैद्धान्तिकता का प्रबल प्रतिष्ठापक भी है और व्यावहारिकता पक्षपोषक भी है, परम्पराओं का मण्डक है और कुरीतियों का भंजक है; इसमें विश्वास है किन्तु आधुनिकिरण नहीं, संवेग है किन्तु विवेकहीनता नहीं, आचरण है किन्तु दुराचरण नहीं, आध्यात्मिकता है किन्तु ऐकान्तिकता नहीं, लौकिकता है किन्तु भौतिकता नहीं।

3

गाँधी : प्रचलित धार्मिक अवधारणाएँ और नवीन अर्थ–बोध

1. प्रारम्भिक

किसी शास्त्र या विज्ञान में विषय–विवेचन के लिये यह आवश्यक होता है कि उसमें जिन विशेष पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता हो, उनके पहले निश्चित अर्थ निर्धारित कर लिए जाए। यह कार्य प्रत्येक विज्ञान में किया गया है। उदाहरण के लिये समाजशास्त्र में समाज, समुदाय, समूह, सामाजिक कार्य, सामाजिक सम्बन्ध आदि अनेक शब्द ऐसे प्रयोग किये जाते हैं, जिन्हें सामान्य बोल–चाल में भी प्रयोग किया जाता है; किन्तु समाजशास्त्र के अन्तर्गत इनका एक निश्चित अर्थ है, जो सामान्य लोगों के अर्थ में पर्याप्त भिन्न है। सामान्य लोग किसी शब्द का प्रयोग, बिना किसी पूर्व चिन्तन के, किसी प्रकार से अपना काम चलाने के लिये करते हैं। विज्ञान में शब्दों के काम चलाऊ प्रयोग से वैज्ञानिक के कथन में अनिश्चितता, अस्पष्टता उत्पन्न होती है। अतः, भ्रम–निवारण के लिए वह प्रमुख शब्दों के अर्थों को पहले से निश्चित कर लेता है।

गाँधी जी की वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने उन्हें धर्म–विवेचन में इस सम्बन्ध में सावधान रखा। उन्होंने धर्म की व्याख्या में जिन प्रमुख शब्दों का प्रयोग किया, उनकी उन्होंने निश्चित, स्पष्ट और वैज्ञानिक व्याख्यायें कीं। गाँधी जी की धार्मिक चिन्तन–धारा को आत्मसात करने के लिए उनकी धार्मिक अवधारणाओं की नवीन व्याख्या से अवगत होना अनिवार्य है।

गाँधी जी के लिए धर्म जीवन और समाज का आधारभूत तत्त्व है। इसको निकाल देने से व्यक्ति और समाज दोनों निष्प्राण और शून्य हो जाते हैं। अतः उनका धर्म अपने क्षेत्र में

संसार की प्रत्येक क्रिया, व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष तथा समाज के प्रत्येक अंग को समेट लेता है। किन्तु यहाँ पर धर्म के इतने विस्तृत क्षेत्र को न लेकर केवल सीमित या सामान्य क्षेत्र को ही लेंगे। इसी सन्दर्भ में उन्होंने जिन शब्दों को प्रयोग किया है, उनकी व्याख्यायें प्रस्तुत करेंगे।

गाँधी जी ने अपने धर्म–विवेचन में कोई नये शब्द नहीं गढ़े, अपितु परम्परा से शास्त्रों या धर्म–ग्रन्थों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के ही अपने दृष्टिकोण से अर्थ निश्चित किये। इस अर्थ–निर्धारण में उन्होंने बौद्धिकता या पाण्डित्य की वृत्ति से काम नहीं लिया है, अपितु उनका लक्ष्य शब्द के मूल भाव या शब्द की आत्मा को उद्घाटित करना रहा है– उसकी सत्यता और वास्तविकता को प्रस्तुत करना रहा है।

2. प्रारम्भिक

विश्व का सम्पूर्ण धार्मिक ज्ञान परमेश्वर या ईश्वर शब्द के चारो ओर केन्द्रित है। समस्त धर्म ईश्वर को आधार मानकर आगे बढ़ते हैं। यहाँ तक कि नास्तिक धर्म भी इससे मुक्त नहीं हो पाते हैं। उन्हें भी उसके अस्तित्व को अस्वीकार करने के लिए बहुत बुद्धि व्यय करनी पड़ती है। गाँधी जी का धर्म भी ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है; किन्तु उसकी व्याख्या अपने दृष्टिकोण से करता है। यह व्याख्या हिन्दुओं के अध्यात्म–दर्शन से प्रभावित है।

(क) क्या ईश्वर है? – संसार के करोड़ों आस्तिक लोगों की तरह वह भी विश्वास करते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व निश्चित रूप से है। वह कहते हैं, ''मुझे आपके और मेरे इस कमरे में बैठे होने का जितना विश्वास है, उससे अधिक ईश्वर के अस्तित्व का विश्वास है।'' इस दृढ़ उक्ति के पीछे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण तो नहीं है; किन्तु बोधगम्य सुदृढ़ तर्क अवश्य हैं। उनका पहला तर्क है कि ईश्वर का अस्तित्व आत्मा या हृदय की अनुभूति से प्रतीत होता है। प्रकृति की सम्पूर्ण व्यवस्था और विचित्रता देखकर यह विश्वास होता है कि इसे संचालित

करने वाली कोई अदृश्य सर्वोच्च चेतनशक्ति अवश्य है, जिसे ईश्वर या परमेश्वर शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है। दूसरा तर्क है कि अगर हम हैं, हमारे माता–पिता थे, और उनके माता–पिता थे, तो यह भी स्वीकार करना उचित है कि इस सम्पूर्ण सृष्टि का भी कोई सर्जक है, स्रष्टा है, जिसे ईश्वर कह सकते हैं। तीसरा तर्क है कि संसार के अनेक ऋषियों और पैगम्बरों ने अपने अतीन्द्रिय ज्ञान से ईश्वर के अस्तित्व को अनुभव किया है, स्वीकार किया है, और घोषित किया है। उनकी अनुभूतियों को प्रमाण–रूप मानने से ईश्वर की सत्ता प्रतिष्ठित होती है।

इस सम्बन्ध में गाँधी जी विशेष तर्क या बुद्धि का प्रयोग न करके केवल श्रद्धा के आश्रित हो जाते हैं। बुद्धिवादियों और तर्क शास्त्रियों से पीछा छुड़ाने के लिए यह कह देते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई बुद्धिवादी नास्तिक उन्हें तर्क में हरा भी दे, तो वह संसार को चुनौती देते हुए कहेंगे कि ईश्वर था और ईश्वर सदा रहेगा।

(ख) ईश्वर क्या है? – यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि ईश्वर है, तो दूसरा प्रश्न उठता है कि ईश्वर क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि ईश्वर कोई व्यक्ति या शरीरधारी नहीं है, अपितु यह एक रहस्यमयी शक्ति है, जो संसार में सर्वत्र परिव्याप्त है, जिसे केवल अनुभव किया जा सकता है, लेकिन जिसके सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं दिया जा सकता है तथा जिसे देखा नहीं जा सकता है। सम्पूर्ण संसार इसी शक्ति द्वारा व्यवस्थित रूप में संचालित होता है, एक विशेष अपरिवर्तनीय नियम द्वारा चलता है। विज्ञान के अनुसार नियम और शक्ति (Law and force) अन्योन्याश्रित हैं। जहाँ नियम या कानून है, वहाँ शक्ति है और जहाँ शक्ति है, वहाँ कोई नियम या कानून निश्चित है। इसीलिए गाँधी जी कहते हैं कि संसार को संचालित करने वाले नियम और नियामक एक हैं, अर्थात्, जिस अटल नियम से संसार संचालित होता है, वही ईश्वर है। विज्ञान और व्यवहार में 'सत्य'

अपरिवर्तनीय होता है। विज्ञान की भाषा में नियम को सत्य कहते। संसार अपरिवर्तनीय और अटल नियमों से संचालित होता है, अतः गाँधी जी कहते हैं कि सत्य ही ईश्वर है। उनके अनुसार यह तथ्य उन्हें पचास वर्षों की अनवरत और कठोर साधना के बाद उपलब्ध हुआ है।

गाँधी जी कभी–कभी संतों की अटपटी वाणी में ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक बातें कह जाते हैं जिसे पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि वह ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट बात न कह कर रहस्यवादियों की भाषा व्यवहार करते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। वह ईश्वर के सम्बन्ध में तर्क–भाषा और ज्ञान की की अपेक्षा श्रद्धा को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के लोग ईश्वर को भिन्न–भिन्न रूपों में स्वीकार करते हैं तथा अपने–अपने रूप में अटूट श्रद्धा रखते हैं। गाँधी जी किसी के दृष्टिकोण को गलत नहीं मानते हैं, क्योंकि वह किसी सीमा तक सत्य को अनेक रूप भी मानते हैं। वह कहते हैं, ''जिन सात अन्धों ने हाथी का सात तरह से अलग–अलग वर्णन किया, वे अपने–अपने दृष्टिकोण से ठीक थे, एक दूसरे के दृष्टिकोण से गलत थे और जो आदमी हाथी को जानता था, उसके विचार से वे गलत भी थी और सही भी थे।'' इस विचार के कारण वह किसी के दृष्टिकोण का खण्डन नहीं करते हैं, किसी की आस्था को आघात नहीं पहुँचाते हैं। इसलिए वह ईसाइयों में ईसा के दृष्टिकोण से ईश्वर को देखते हैं और मुसलमानों में मुहम्मद के दृष्टिकोण से, जैनियों के मंच से ईश्वर को असृष्टा मानते हैं और रामानुज के मंच से सृष्टा स्वीकार करते हैं। जहाँ तक उनका अपना निजी विचार है, वह ईश्वर को निराकार ही मानते हैं और सत्य को ही ईश्वर कहते हैं। उन्होंने इस स्थिति को पूर्ण रूप से इस प्रकार स्पष्ट किया है, ''अपने बचपन में मुझे हिन्दू–शास्त्रों में जिन्हें ईश्वर के सहस्रनाम कहा जाता है'' उनका जप करना सिखाया गया था। परन्तु इन सहस्र नामों में ईश्वर की सारी नामावली समाप्त नहीं हो जाती। हम मानते हैं और मेरे विचार से यही सत्य है कि जितने प्राणी हैं, उतने ही ईश्वर के नाम हैं और

इसीलिए हम यह भी कहते हैं, कि ईश्वर अनाम है; और चूंकि ईश्वर के अनेक रूप हैं, इसलिए हम उसे अरूप भी समझते हैं; और चूंकि वह हमसे कई वाणियों में बात करता है, इसलिए हम उसे अवाक् समझते हैं, तब मुझे पता लगा कि इस्लाम में भी ईश्वर के अनेक नाम हैं। लोग कहते थे कि ईश्वर प्रेम है, उनके साथ में भी कहता था कि ईश्वर प्रेम है। परन्तु अपने हृदय की गहराई में मैं यही कहा करता था कि ईश्वर प्रेमरूप होगा, मगर सबसे अधिक तो ईश्वर सत्य रूप है। अगर मानव–वाणी के लिए ईश्वर का सम्पूर्ण वर्णन सम्भव हो तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मेरे अपने लिए तो ईश्वर सत्य है – सत्य शब्द ही उसका सर्वोत्तम वाचक है। परन्तु दो वर्ष पूर्व मैं एक कदम अेर आगे बढ़ा; मैंने कहा कि न केवल ईश्वर सत्य रूप है, बल्कि सत्य ही ईश्वर है।'' इस उद्धरण में रेखांकित वाक्यांशों पर ध्यान देने से स्पष्ट होता है कि यदि लोग ईश्वर को प्रेम रूप या अन्य किसी रूप में स्वीकार करते हैं, ईश्वर वैसा होगा, किन्तु उनके स्वयं के लिए सत्य ही ईश्वर है। यहाँ गाँधी जी दूसरों के दृष्टिकोण या अनुभव के खण्डन–मण्डन के विवाद में नहीं पड़ना चाहते हैं, इसलिए वैसा 'होगा' कहते हैं; किन्तु अपनी अनुभूति को दृढ़ निश्चय के साथ 'है' कह कर व्यक्त करते हैं।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर को परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों से लोग क्यों व्यक्त करते हैं? ईश्वर को सृष्टा, और असृष्टा, निर्गुण और सगुण, ससीम और असीम, कठोर और दयालु कहकर अटपटा क्यों बना देते हैं? इस सम्बन्ध में उनका विचार यह है कि ईश्वर बहुत विराट शक्ति या सता है। इसे पूर्ण रूप से समझना मनुष्य बुद्धि के लिए सम्भव नहीं है। इसे श्रद्धा से अपेक्षाकृत न्यूनाधिक रूप में अनुभव किया जा सकता है, किन्तु सम्पूर्ण रूप से इसका वर्णन नहीं हो सकता है। जहाँ आंशिक वर्णन होंगे, वहाँ सात अन्धों के हाथी के वर्णन की स्थिति स्वाभाविक है। अतः ''हम सब अकल्पनीय कल्पना करते हैं, अवर्णनीय वर्णन करते हैं और अज्ञात को जानना चाहते हैं और इसीलिए हमारी वाणी लड़खड़ाती है,

अपूर्ण सिद्ध होती है और बहुधा परस्पर विरोधी होती है। बुद्धि उसे जानने में असमर्थ है, वह बुद्धि की पहुंच या पकड़ से बाहर है। परन्तु इस मुद्दे का मुझे विस्तार करने की जरूरत नहीं है। इस मामले में श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है।''

(ग) ईश्वर कहाँ है? – गाँधी जी का ईश्वर कोई शरीरधारी व्यक्ति नहीं है। वह किसी सातवें आसमान या अन्य लोक में भी नहीं रहता है। वह तो निराकार रहस्यमयी शक्ति के रूप में है, जो संसार के प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वस्तु में निहित है। उसकी खोज के लिए किसी गुफा–कन्दरा में जाने की आवश्यकता नहीं है, अपितु उसे मनुष्यों और अन्य प्राणियों में खोजना चाहिए। वह कहते हैं, ''मैं सम्पूर्ण का एक अविभाज्य अंग हूँ और मैं उसे शेष मानवता से अलग नहीं पा सकता।''

भारत की परिस्थितियों के अनुसार गाँधी जी ने ईश्वर शब्द का अर्थ–विस्तार किया था और कहा था कि संसार में ईश्वर के सहस्रों नामों का उल्लेख होता है; जिनमें से एक नाम दरिद्र नारायण भी है, जिसका आशय है गरीबों का ईश्वर अथवा गरीबों के हृदय में प्रकट होने वाला ईश्वर। उन्होंने अपने इस मत पर बहुत जोर देते हुए कहा है, ''मैं उस ईश्वर को मानता हूँ जो लाखों मूक जनों के हृदयों में निवास करता है और किसी ईश्वर को नहीं मानता।''

गरीबों और असहायों पर दया करना तो प्रायः सभी धर्मों में सिखाया जाता है, किन्तु यह दया–भाव में दया करने वाला अपने को ऊँचा समझता है, और जिस पर दया करता उसे अपने से नीचा समझता है। गाँधी जी ने ईश्वर को दरिद्र नारायण की संज्ञा देकर भेद–भाव की भावना का अन्त किया तथा उनके प्रति श्रद्धा की भावना उत्पन्न कर दी।

गाँधी जी की ईश्वर सम्बन्धी इस मान्यता से स्पष्ट है कि उन्होंने स्वर्ग या सातवें आसमान में रहने वाले ईश्वर को धरती पर उतार दिया, मनुष्यों में सम्पृक्त कर दिया,

अलौकिक से लौकिक बना दिया। यह ईश्वर का सामाजीकरण भी है और मानवीयकरण भी है। गाँधी जी के अनुसार ईश्वर से साक्षात्कार करने या उसे खोजने के लिए समाज से पृथक् नहीं हुआ जा सकता है, उसे समाज और मनुष्यों में ही प्राप्त करना पड़ेगा।

(घ) ईश्वर–साक्षात्कार कैसे? – गाँधी जी ने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ कहा कि प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य ईश्वर का साक्षात्कार करना है। प्रश्न यह उठता है कि जब ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है, तो फिर साक्षात्कार किसका करना है? इसका उन्होंने यह उत्तर दिया कि सत्य ही ईश्वर है, इस सत्य की उपलब्धि ही ईश्वर का साक्षात्कार है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अपने सत्य के पता लगाने के लिए विशेष प्रकार के नियमों का पालन करता है, इसी प्रकार संसार के सम्पूर्ण सत्य अर्थात् ईश्वर को प्राप्त करने के लिए कुछ नियमों पालन करना अनिवार्य है। उन्होंने इस संदर्भ में बिजली का उदाहरण दिया है। बिजली अदृश्य शक्ति है। यदि कोई बिजली का साक्षात्कार करना चाहता है, तो उसे विज्ञान द्वारा निश्चित कुछ नियमों का अनुसरण करना होगा। इन नियमों को पालन किये बिना कोई व्यक्ति बिजली की शक्ति या प्रकाश को अनुभव नहीं कर सकता है। ईश्वर इसी प्रकार अदृश्य रहस्यमयी शक्ति है, जिसे विशेष नियमों को पालन करके अनुभव किया जा सकता है, उसके प्रकाश से लाभ उठाया जा सकता है। यह विशेष नियम है – निष्काम भाव से मनुष्य ही नहीं अपितु प्राणि मात्र की सेवा के लिये अपने को अर्पित करना। ''समस्त मानव–प्राणियों की तात्कालिक सेवा इस प्रयत्न (ईश्वर साक्षात्कार) का आवश्यक अंग बन जाती है। कारण, ईश्वर को पाने का एक मात्र उपाय यह है कि उसे उसकी सृष्टि में देखा जाय और उसके साथ एकता अनुभव की जाये। यह सबकी सेवा से ही हो सकता है।''

मानवता के सेवक होने का दावा तो कोई व्यक्ति कर सकता है; किन्तु गाँधी जी की दृष्टि में सब सेवक नहीं है। उनके अनुसार सेवा वही सच्ची है, जिसके आधार में अहिंसा और

प्रेम है। उन्होंने अपने इस दृष्टिकोण की बहुत विस्तार से चर्चा की है, जिस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ पर संक्षेप में उन व्रतों का उल्लेख मात्र करेंगे, जिनके द्वारा कोई व्यक्ति प्राणिमात्र की सच्ची सेवा कर सकता है, अपनी आत्मा को शुद्ध कर सकता और सत्य की उपलब्धि कर सकता है अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। ये व्रत हैं– सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह। ये मन, वचन और कर्म से पालन किये जाने चाहिए। जहाँ इन व्रतों का पालन होगा, वहाँ ईश्वर या सत्य के निकट पहुँचने का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा और वास्तविक शान्ति, यथार्थ आनन्द की उपलब्धि हो जायेगी।

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि गाँधी जी मोक्ष या ईश्वर–प्राप्ति के लिए जंगल में रहने या गुफा में तपस्या करने अथवा हिमालय में शरीर को गला देने की सलाह नहीं देते हैं। उनका अटल विश्वास है कि मोक्ष या ईश्वर का साक्षात्कार जीवन और समाज से पृथक् होकर सम्भव नहीं है, अपितु त्याग और सेवा, अहिंसा तथा प्रेम से अपने को सृष्टि का अविभाज्य अंग बना देने से सम्भव है। इसीलिये उनके विधान में जो व्रत निर्धारित किये गये हैं, उनका रूप भी वैयक्तिक न होकर सामाजिक है।

इस प्रकार, गाँधी जी का ईश्वर निराकार है, संसार को परिचालित करने वाली अदृश्य शक्ति–रूप है, शाश्वत नियम है, पूर्ण सत्य है; उसे ज्ञान–सीमाओं और परिस्थितियों के कारण विभिन्न लोगों ने विभिन्न संज्ञाएं दी हैं, किन्तु वह मूलतः एक है; वह सम्पूर्ण संसार में परिव्याप्त है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य में भी उसका अस्तित्व है, अतः उसकी खोज के लिये अपने में, अन्य मनुष्यों में, समस्त प्राणियों में प्रयत्न करना चाहिए– उसे जीवन में ही प्राप्त किया जा सकता है और समाज में ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है और यह महान उपलब्धि अपने अहम् को शून्य कर देने, सम्पूर्ण सृष्टि का अपरिहार्य तत्त्व बनने, त्याग और प्रेम से मानवता की सेवा करने से ही सम्भव है।

3. सत्य

धार्मिक ज्ञान में सत्य का सर्वोपरि स्थान है। गाँधी जी ने तो सत्य को ही ईश्वर माना है।

यों सत्य शब्द नित्य बोल–चाल से लेकर दर्शन–विज्ञान तक में प्रयोग किया जाता है; किन्तु जितना इसका प्रयोग सरल है, उतना इसका अर्थ सरल नहीं है। इसकी अवधारणा को निश्चित करने के लिये विश्व के अनेक दर्शनशास्त्रियों ने अनेक प्रयत्न किये; किन्तु वे अपने बौद्धिक व्यायामों से किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। सामान्य व्यक्तियों के लिये भी सत्य–असत्य का निर्णय बहुत भ्रम में डाल देता है। गाँधी जी ने भी सत्य के सैद्धान्तिक ओर व्यावहारिक दोनों पक्षों पर बहुत विचार किया। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन सत्य–शोध के लिये अर्पित किया था। अतः उनके साहित्य और जीवन में सत्य के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

(क) सत्य का अर्थ – गाँधी जी ने सत्य शब्द की व्याख्या शब्द–व्युत्पत्ति की दृष्टि से की है कि ''सत्य शब्द सत् शब्द से बना है। सत् का अर्थ है – होना या अस्ति; सत्य का अर्थ हुआ – होने का भाव या अस्तित्व।'' एक अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है, ''असल में अंग्रेजी शब्द 'Truth' के लिए संस्कृत में जो शब्द है – यानी 'सत्य' – उसका शब्दार्थ ही 'जो है' है।'' यहाँ पर सत्य का आशय है, जो वास्तव में है, या जो यथार्थ में है। गाँधी ने अनेक स्थलों पर कहा है कि संसार अपरिवर्तनीय और अटल नियमों से संचालित होता है। ये नियम सत्य है। अतः यह भी कहा जा सकता है कि जो अपरिवर्तनीय है, वही सत्य है, चरम सत्य है। इटली के प्रख्यात दार्शनिक पार्मिनीडीज ने भी सत्य की यही व्याख्या की है। वह कहता है कि सत्य अपरिवर्तनशील होता है, ध्रुव होता है। जो परिवर्तनशील होता है, वह असत्य है, मिथ्या है।

सत्य की उत्पत्ति नहीं होती है और न सत्य का विनाश होता है। सत्य तो नित्य और शाश्वत होता है। गाँधी जी भी कहते हैं कि उनका सत्य कल्पित सत्य नहीं है, अपितु स्वतन्त्र और चिर स्थायी सत्य है। वह विशुद्ध वैज्ञानिक की भाँति सत्य को अन्तिम मानते हैं। वह आत्म–कथा में लिखते हैं, ''मेरी नजरों में ये सही हैं और इस समय तो आखिरी से लगते है।'' इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि गाँधी जी के लिए सत्य वही है, जो ध्रुव है, अटल है, अपरिवर्तनीय है।

सम्भव है, कुछ लोगों को यह भ्रम होता हो कि गाँधी जी ने अनेक बार अपने मत या विचार में परिवर्तन किया है, तो उनका सत्य अपरिवर्तनीय कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान गाँधी जी ने स्वयं किया है। वह अपने को तथा अन्य मनुष्यों को अपूर्ण मानते हैं। जहाँ अपूर्णता है, वहाँ यह भी सम्भव है कि मनुष्य गलती करे, भ्रम में पड़े। फलतः, यह भी हो सकता है कि वह पूर्ण सत्य की उपलब्धि न कर सके और आंशिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मान बैठे। इससे सत्य की अपूर्णता या परिवर्तनशीलता नहीं सिद्ध होती है। सत्य फिर भी अपरिवर्तनीय और अटल रहता है। गाँधी जी ने सत्य को ज्ञात करने के लिए पर्याप्त निरीक्षण–परीक्षण किया और जब उन्हें सत्य प्रतीत हुआ, तो उन्होंने उस समय के लिए उसे ही अन्तिम और सत्य माना; किन्तु उन्होंने मानवीय अपूर्णता को ध्यान में रखते हुए, उसमें भविष्य में परिवर्तन की गुंजाइस रखी। इसीलिए उन्होंने अपने निष्कर्षों को 'सत्य के प्रयोग' संज्ञा दी है और उनके सम्बन्ध में स्पष्ट कहा है, ''इस समय तो ये आखिरी से लगते हैं।''

(ख) सत्य की प्रकृति – गाँधी जी के अनुसार सत्य सदा हितकर और आनन्दयुक्त है। उसमें शोक या अहित के लिए कोई स्थान नहीं है। सत्य से चित् और आनन्द का अनिवार्य सम्बन्ध है। चित् का आशय ज्ञान है। जहाँ सत्य है वहाँ शुद्ध ज्ञान निश्चित है। चूंकि सत्य चिरस्थायी और शाश्वत है, इसलिए सत्य का सुख या आनन्द भी शाश्वत होता है।

(ग) सत्य का क्षेत्र – सत्य का क्षेत्र सत्य बोलने तक सीमित नहीं है। गाँधी जी ने सत्य के क्षेत्र का विस्तार किया है। वह वाण के सत्य को ही सत्य नहीं मानते हैं, अपितु उनके सत्य में विचार और आचार का भी सत्य सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, सत्य वही है, जो मन, वचन और कर्म से पालन किया जाए। सत्य चिन्तन, अभिव्यक्ति और आचरण में एक रूप होता है। जहाँ सोचा या कहा कुछ और जाए और किया कुछ और जाए, वह सत्य नहीं है।

सत्य विचार वह होता है, जिसमें तटस्थता या निष्पक्षता तथा श्रद्धा का समावेश होता है तथा राग–द्वेष या मनोविकार का कोई स्थान नहीं होता है। ऐसा विचार सदा के लिए उचित और न्यायसंगत प्रतीत होता है। सत्य वाणी या सत्य वचन में भ्रम या अर्थभेद नहीं निहित होता है तथा यह हृदय के विचारों के पूर्ण अनुरूप होती है। इसमें बुद्धि और हृदय जैसा ठीक समझते हैं, उसे शब्दों में उसी प्रकार व्यक्त करते हैं। जो विचार या चिन्तन की दृष्टि में उपयुक्त और उचित हो, उसी के अनुरूप सविवेक आचरण करना या कर्म करना सत्य कर्म है।

गाँधी जी कहते हैं कि विचार, वाणी और कर्म का सत्य ही पूर्ण सत्य है और जो इसे सम्पूर्णतः समझ लेता है, उसे संसार में और कुछ जानने को नहीं रह जाता है। इस प्रकार इस सम्पूर्ण सत्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।

(घ) सत्य का निष्कर्ष – प्रायः देखा जाता है कि दो विभिन्न विरोधी बातें कहने वाले दो व्यक्ति अपने–अपने को सत्य और एक दूसरे को असत्य मानते हैं। धर्मों के क्षेत्र में ही प्रत्येक धर्म अपने को उचित और अन्य धर्मों को अनुचित मानता है। ऐसी स्थिति में सत्य–असत्य, ग्राह्य–अग्राह्य का निर्णय कैसे हो?

इस सम्बन्ध में गाँधी जी का मत है कि जिस प्रकार किसी वैज्ञानिक सत्य या तथ्य की उपलब्धि प्रत्येक व्यक्ति बिना वैज्ञानिक ज्ञान और नियम के नहीं कर सकता है, उसी प्रकार जीवन के किसी क्षेत्र में सत्य की उपलब्धि या सत्य का निर्णय भी बिना कुछ शर्तों या नियमों के पालन के सम्भव नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में सत्य के निर्णय के लिए व्रतों के पालन को अनिवार्य बताते हैं। जो व्यक्ति सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह आदि के व्रतों का पालन नहीं करता है, वह आध्यात्मिक क्षेत्र में चरम सत्य की प्राप्ति नहीं कर सकता है। जिसने इन व्रतों का अभ्यास न कर लिया हो, उसे चरम सत्य की खोज के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति इन व्रतों का पालन करता है, उसकी अन्तरात्मा ही सत्य का निकष है, अर्थात् कसौटी है। साधना और व्रतों द्वारा सुसंस्कृत या शुद्ध हुई आत्मा जो कुछ कहे, वही सत्य है। ''फिर भी हम पायेंगे कि एक के लिए जो सत्य है, वह दूसरे के लिए असत्य हो सकता है। इसमें घबराने की बात नहीं है। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है, वहाँ भिन्न जान पड़ने वाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तों के समान है। ×× अतः जिसे जो सत्य लगे तदनुसार बरते तो उसमें दोष नहीं। इतना ही नहीं बल्कि वही कर्त्तव्य है।'' यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि गाँधी जी शुद्ध आत्मा और शुद्ध निस्वार्थ प्रयत्न पर जोर देते हैं।

(ङ) सत्य का परिवेश – गाँधी जी के सत्य के परिवेश में केवल व्यक्ति ही नहीं, आता है, अपितु इसमें समूह और समाज का भी समाहार है। वह चाहते हैं कि सम्पूर्ण सत्य (मन, वचन, कर्म का सत्य) का पालन धर्म, राजनीति, अर्थनीति, परिवार–नीति सब में होना चाहिए। व्यक्ति और समाज का कोई पक्ष सत्य से विरत न हो। राजनीति में असत्य को प्रायः आधार माना जाता है; किन्तु गाँधी जी ने स्वयं अपने आचरण से सिद्ध कर दिया कि राजनीति में सत्य का पालन पूर्णतयः सम्भव है। उनका यह नवीन प्रयोग विश्व–इतिहास के लिए अविस्मरणीय घटना है। सम्भवतः वह विश्वबंद्य इसीलिए हुए कि सत्य के वैयक्तिक

जीवन–दर्शन को सामाजिक–जीवन दर्शन में परिणित किया और किसी सीमा तक अपने अनेक अनुयायी बनाकर दिखा दिया कि जो व्यक्ति के लिए सम्भव है, वह समूह के लिये भी सम्भव हो सकता है। हमारे कथन का यह आशय नहीं है कि स्वतन्त्रता–संग्राम में भाग लेने वाले समस्त व्यक्ति गाँधी जी के 'सम्पूर्ण सत्य' के पालक थे; किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि बहुसंख्यक लोगों ने कुछ काल के लिए उनकी सत्य की अवधारणा को सिद्धान्त और आचरण में न्यूनाधिक रूप में स्वीकार अवश्य किया, जिसके फलस्वरूप उनके नेतृत्व में बिना किसी सशस्त्र संघर्ष या रक्तपात के भारत स्वतन्त्र हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत को जो सम्मान प्राप्त हुआ है, शायद उसके पीछे गाँधी जी के राजनीतिक सत्य–प्रयोगों का बहुत बड़ा योग है।

4. अहिंसा

गाँधी जी सत्य और अहिंसा को अन्योन्याश्रित मानते हैं, दोनों को एक ही मुद्रा के दो पार्श्व के रूप में स्वीकार करते हैं।

(क) अहिंसा क्या है? – 'अहिंसा' शब्द अति प्राचीन काल से प्रयोग हो रहा है। स्वदेश–विदेश में इसकी व्याख्याएं भी असंख्य हुई हैं। भारतवर्ष में वैदिक काल से लेकर आधुनिक युग तक इसकी चर्चा हुई। जैनियों और बौद्धों ने इस पर बहुत विचार किया है। किन्तु सर्व साधारण में इसकी अत्यन्त अस्पष्ट व्याख्या प्रचलित रही है। स्थूल रूप से अधिकांश लोग किसी को न मारना ही अहिंसा समझते हैं। गाँधी जी कहते हैं कि यह अहिंसा का पूर्ण नहीं, आंशिक अर्थ है। किसी को न मारना अहिंसा का एक अंग अवश्य है; किन्तु अहिंसा में इसके अतिरिक्त और कुछ भी है। उन्हीं के शब्दों में, 'किसी को न मारने का भाव तो उसमें है ही। कुविचार–मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा

है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत को जिस चीज की आवश्यकता है, उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।' स्पष्ट है कि गाँधी जी के लिए अहिंसा का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। इसमें कार्य ही नहीं, अपितु विचार में भी सावधान रहना आवश्यक है, वाणी और संवेगों को भी नियन्त्रित करना अनिवार्य है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में संयम रखना अपेक्षित है।

संक्षेप में, गाँधी जी की अहिंसा की अवधारणा मन, वचन और कर्म से सम्बन्धित है। इसके अनुसार अहिंसा धर्म के मानने वाले व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के प्रति कोई ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिए, कोई ऐसी बात नहीं कहना चाहिए और कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए, जो वह व्यक्ति अपने स्वयं के लिए अहितकर या अकल्याणकारी समझता हो। यदि कोई व्यक्ति दूसरे के प्रति अहितकर काम करता तो नहीं है; किन्तु सोचता या मुंह से कहता ही है, तो वहाँ हिंसा हो जाती है। यहाँ पर वैचारिक हिंसा की बात विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार अहिंसक पद्धति में यह स्वीकार नहीं है कि किसी को अपने विचारों से पराजित किया जाए या पराजित करने का भाव मन में रखा जाए। दादा धर्माधिकारी इसी संदर्भ में कहते हैं, '' गाँधी जी ने जो विचार दिया, उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी वैचारिक भूमिका में भी अहिंसा है, दूसरे के विचारों का निराकरण करना है, दूसरे के विचारों को परास्त करना है और अपने विचार की प्रस्तावना करनी है, इसे भी उन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं किया।''

अहिंसा की व्याख्या प्रायः नकारात्मक की जाती है, अर्थात्, हिंसा न करना अहिंसा है। गाँधी जी इस व्याख्या से सन्तुष्ट नहीं हैं। वह कहते हैं कि केवल हिंसा न करना ही अहिंसा नहीं है, अपितु विपक्षी को अधिक से अधिक प्रेम करने का भाव भी अहिंसा में निहित है। सी0एफ0 एण्ड्रूज के अनुसार गाँधी जी की अहिंसा में ''दूसरों का स्वयं हित करना भी आता है। जहाँ तक युद्ध और रक्तपात का प्रश्न है, अहिंसा का अर्थ इनमें भाग लेने से एकदम

इन्कार कर देना है। लेकिन यह अर्थ यहीं समाप्त नहीं हो जाता है, वह तब पूरा होता है, जब हम अधिक–से–अधिक कष्ट उठाकर उनका हृदय जीतने को तत्पर हो जाते हैं, जो हमारे साथ बुराई करते हैं।''

वस्तुतः गाँधी जी की अहिंसा का मूल आधार प्रेम है। उनका मत है कि जो हमें प्रेम करता है, उससे हम भी प्रेम करें – यही अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो तब है, जब हम अपने विरोधी, अपने शत्रु या अपने से द्वेष रखने वाले को भी प्रेम करें। इसका यह आशय नहीं है कि विपक्षी या विरोधी की हिंसा या बुराई से मेल किया जाए। यह तो नितान्त अनुचित होगा। अहिंसा–मार्ग में विपक्षी की बुराई या दुष्प्रवृत्ति को प्रेम के द्वारा दूर करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि व्यक्ति जो दूसरे को देगा, वही उसे प्राप्त होगा। यदि कोई हिंसा का उत्तर हिंसा से देता है, तो उसे प्रेम ही प्राप्ति नहीं होगी। यदि व्यक्ति हिंसा का उत्तर प्रेम से देता है, तो उसे प्रेम ही प्राप्त होगा। वह इस सम्बन्ध में यहाँ तक जाते हैं कि वही व्यक्ति सच्चा अहिंसक है, जो अपनी हत्या होते समय भी अपने हत्यारे के प्रति क्रोध नहीं करता है, अपितु ईश्वर से उसे क्षमा करने को कहता है। जैसे ईसा ने सूली पर कहा था, ''परम पिता, इन्हें (हत्यारों को) क्षमा कर दीजिए; क्योंकि इन्हें पता नहीं है कि ये क्या कर रहे हैं।'' गाँधी ने स्वयं इस प्रकार के प्रयोग किए थे और उन्हें सफलता मिली थी। उदाहरण के लिए हम दक्षिणी अफ्रीका की एक घटना को ले सकते हैं। वहाँ पर गाँधी जी ने भारतीयों पर लगाए गए करों के विरोध में अहिंसात्मक आन्दोलन किया। इस आन्दोलन के दमन का कार्य जनरल जे0सी0 स्मट्स के हाथ में था। गाँधी जी अंग्रेजों की नीति के विरोधी अवश्य थे, किन्तु वहाँ उनका विरोध अहिंसक था। वह प्रेम और स्नेह से विरोधी को अपना बना रहे थे। जिस स्मट्स ने उन्हें जेल में बन्द किया, उसी के लिए गाँधी जी ने अपने हाथ से चप्पल बना कर दिए। इसके अतिरिक्त अंग्रेजों की जो उचित नीतियां थीं, उनमें अपना पूर्ण सहयोग दिया।

सम्पूर्ण आन्दोलन में कटुता, घृणा, द्वेष की भावना नहीं उत्पन्न होने दी। फलतः स्मट्स ने गाँधी जी की मांगें तो स्वीकार ही कीं, साथ ही साथ हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ा। स्मट्स का यह कथन सम्पूर्ण स्थिति को स्पष्ट करता है, जो उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका के आन्दोलनकारियों को सम्बोधित करते हुए लिखा था – ''मैं तुम्हारे लोगों को बिल्कुल नहीं पसन्द करता और न मैं उनकी सहायता करने की रत्ती भर परवाह करता हूँ। परन्तु, मैं क्या करूँ? तुम लोग जरूरत के समय मेरी मदद करते हो। हम तुम पर कैसे हाथ उठा सकते हैं! अक्सर यह चाहता हूं कि आप लोग भी अंग्रेज हड़तालियों के समान हिंसा का आश्रय लेते, तब हम आपको बताते कि कैसे निपटा जाता है। परन्तु आप तो अपने शत्रु को भी नुकसान नहीं पहुंचाते। आप केवल आत्मपीड़न द्वारा विजय चाहते हैं और स्वयं अपने ऊपर लगाई गई शिष्टाचार और बहादुरी की मर्यादाओं का भी कभी उल्लंघन नहीं करते और, यही चीज हमें असहाय बना देती है।'' गाँधी जी के सम्बन्ध में स्मट्स ने लिखा ''जिन उद्देश्यों के लिए वह लड़ते हैं, उनके लिए यद्यपि वह सर्वस्व उत्सर्ग करने को तैयार हैं, किन्तु परिस्थिति की मानव–भूमिका नहीं भुलाते, अपने मस्तिष्क का सन्तुलन कभी नहीं खोते, न द्वेष के वशीभूत ही होते हैं और अत्यन्त कठिन प्रसंगों में भी अपना मृदु–मधुर विनोद कायम रखते हैं। उस समय भी और उसके बाद भी उनका व्यवहार और उनकी भावना आज की निष्ठुर और नग्न पाशविकता से बिल्कुल भिन्न थी।'' गाँधी जी के जीवन में इस प्रकार के अनेक प्रसंग आए, जो इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उनकी प्रेम–मूलक अहिंसा काल्पनिक नहीं है, अपितु व्यावहारिक है। उनके इस अस्त्र को आज पाश्चात्य देशों में भी अपनाया जा रहा है। हाल ही में संयुक्तराज्य अमेरिका में नीग्रो लोगों ने गोरों की रंग–भेद नीति के विरुद्ध अहिंसक प्रदर्शन ही किया था।

गाँधी जी का व्यक्तित्व आध्यात्मिक था। वह श्रद्धा और विश्वास को तर्क की अपेक्षा अधिक स्थान देते थे। अहिंसा के सम्बन्ध में भी उनका मत है कि यह विश्वास और अनुभव से

सम्बन्धित है, तर्क से नहीं। वह इसे बौद्धिकता पर आश्रित नहीं मानते हैं; बल्कि वह इसे हृदय और आत्मा का गुण मानते हैं।

गाँधी जी के अनुसार कायरता और निष्क्रियता अहिंसा नहीं है। यह सबल का अस्त्र और साहसी का साधन है। यह संसार की सर्वाधिक क्रियाशील शक्ति है। यह आत्म–बलिदान का मार्ग है, इसीलिए कायर इसका उपयोग नहीं कर सकता है। वह कायरता के इतने विरोधी हैं कि कायरता की तुलना में हिंसा को अच्छा समझते हैं; क्योंकि कायर या भागने वाला मानसिक हिंसा का अपराधी होता है। वह अपने विरोधी को मन से मारना चाहता है; किन्तु साहस के अभाव में पलायन करता है। गाँधी जी की अवधारणा में हिंसा का विचार मन में लाना ही हिंसा है। अतः, कायर या निष्क्रिय व्यक्ति हिंसा से मुक्त नहीं है। अहिंसक के लिए श्रेष्ठ मार्ग यही है कि वह अन्याय का प्रतिकार सद्प्रवृत्ति से करे। किन्तु, जिसके लिए यह सम्भव नहीं है, उसके लिए दूसरा मार्ग मरना और मारना ठीक है। कायरता और निष्क्रियता तो किसी भी दशा में ग्राह्य नहीं है। इस प्रकार गाँधी जी की अहिंसा में असीम धैर्य और आत्म–बलिदानी साहस की अपेक्षा है।

गाँधी जी अहिंसा को वैयक्तिक आचरण तक ही सीमित नहीं रखते हैं, अपितु वह इसे मनुष्य जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में लागू करते हैं। उन्होंने स्वयं अहिंसा को वैयक्तिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक पक्षों में लागू किया। उनकी अहिंसा पारलौकिक शान्ति या मोक्ष–प्राप्ति का ही साधन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक शान्ति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय, पारिवारिक निर्माण का भी साधन है। यह मनुष्य के लिये ही नहीं, सम्पूर्ण प्राणि–जगत् के प्रति व्यवहार्य है।

यद्यपि गाँधी जी सामान्यतः सत्य और अहिंसा को अन्योन्याश्रित मानते हैं, एक सिक्के के दो पहलू स्वीकार करते हैं; किन्तु अन्ततः अहिंसा को सत्य की उपलब्धि का साधन मानते हैं, अर्थात्, सत्य साध्य है, अहिंसा साधन है। जैसा हम पिछले पृष्ठों में बता चुके हैं कि गाँधी जी की दृष्टि में सत्य का साक्षात्कार मनुष्य का चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र मार्ग अहिंसा है।

(ख) अहिंसा की सीमाएँ – जब गाँधी जी अपनी अहिंसा का विस्तार सम्पूर्ण प्राणि–जगत् में कर देते हैं, तो कुछ लोगों के मन में प्रश्न उठता है कि ऐसी स्थिति में अहिंसक होना असम्भव है; क्योंकि कोई व्यक्ति उठते–बैठते, खाते–पीते छोटे–छोटे कीटाणुओं, जीव–जन्तुओं की हत्या से मुक्त हो नहीं सकता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्टीकरण किया है। उनके मत से हिंसा से सर्वथा मुक्त होना मनुष्य के लिये सम्भव नहीं है। यदि शरीर रहेगा, तो कुछ न कुछ हिंसा अवश्य होगी। किन्तु, इस हिंसा से बचने के लिये शरीर को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। शरीर ईश्वर की धरोहर है, उसे नष्ट करने का व्यक्ति को कोई अधिकार नहीं है। लेकिन, शरीर के प्रति आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। अपने शरीर के पोषण और संरक्षण के लिये दूसरे जीवों की हत्या नहीं करनी चाहिये। जो हिंसाएँ अनजाने होती हैं, उनके लिए चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। यह मनुष्य की विवशता है। किन्तु, ''शरीर की मर्यादाओं को अच्छी तरह समझकर हमें अपने भीतर जो भी शक्ति है, उसे लगाकर (अहिंसा के) आदर्श की ओर दिन प्रतिदिन आगे बढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए। अहिंसा के पुजारी के सब कामों का स्रोत दया है, यदि वह छोटे–से–छोटे प्राणियों को भी नष्ट करने से भरसक परहेज रखता है, उन्हें बचाने की कोशिश करता है और इस प्रकार हिंसा के घातक फंदे से मुक्त होने का सतत् प्रयत्न करता है, तो वह अपने ईमान का सच्चा होता है। उसके संयम और उसकी करुणा में सतत् वृद्धि होती रहेगी, परन्तु वह बाह्य हिंसा से सर्वथा विमुक्त

नहीं हो सकता।'' अतः गाँधी जी अहिंसा के सम्बन्ध में कल्पनावादी नहीं, व्यावहारिक कहे जाएँगे। उन्होंने मनुष्यों या सम्पत्ति को हानि पहुँचाने वाले जीव–जन्तुओं को मारने की अनुमति दी है। अपने आश्रम में तड़पते हुए मरणासन्न बछड़े को कष्ट से मुक्त करने के लिये जहर देने की अनुमति दी थी। यहाँ हिंसा अवश्य हुई; किन्तु इसके पीछे असीम दया तथा परदुःखकातरता का भाव निहित था। हिंसक जीव–जन्तुओं के सम्बन्ध में गाँधी जी हत्या की अनुमति देते अवश्य हैं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनके हृदय का यह भाव था कि यदि मनुष्य अहिंसा का पालन यथोचित रीति से करे, तो हिंसक जीव भी मनुष्य को हानि नहीं पहुँचायेंगे। उन्होंने लिखा है कि उनके दक्षिणी अफ्रीका और भारत के आश्रमों में बहुत से सांप–बिच्छू निकलते थे। उन्होंने उन्हें कभी मरवाया नहीं। लेकिन, उनके आश्रम में इनके कारण कोई मृत्यु भी नहीं हुई। सम्भवतः उनका संकेत इस आशय की ओर ही है कि हिंसक जीव–जन्तु भी अहिंसा से अहिंसक हो जाते हैं।

इसी प्रकार यह भी शंका उठती है कि अहिंसक राज्य और समाज में दण्डनीति का स्वरूप क्या होगा? दण्ड–विधान में तो हिंसा से मुक्ति सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में भी गाँधी जी व्यावहारिक मार्ग का अनुसरण करते हैं। वह अहिंसक राज्य की कल्पना अवश्य करते हैं; किन्तु उसमें सेना और पुलिस के लिये कुछ छूट भी देते हैं। वह कहते हैं : अहिंसक राज्य में पुलिस और सेना को स्थान देने से अहिंसा के सिद्धान्त की अपूर्णता सिद्ध होती है; किन्तु यहाँ पर पुलिस शासक और स्वामी के रूप में न रह कर, जनता के सेवक के रूप में कार्य करेगी। पुलिस अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग नहीं करेगी, दमन–नीति का अनुसरण नहीं करेगी, अपितु समाज की अशान्ति और अव्यवस्था को जनता के सहयोग से सद्भावना द्वारा दूर करेगी। गाँधी जी की अहिंसक राज्य की अवधारणा में जेलों का स्थान अवश्य है; किन्तु ये जेलें, यातना और प्रपीड़न का स्थान न होकर, व्यक्ति के सुधार और निर्माण का स्थल होंगी,

अपराधियों की सामाजिक चिकित्सा का साधन होंगी। यहाँ आजकल की तरह अपराधी और अधिक अपराधी नहीं बनेंगे, अपितु वे जेलों में रहकर हृदय–परिवर्तन करेंगे, कलुषित अतीत को विस्मृत करेंगे और उज्ज्वल भविष्य की ओर अग्रसर होंगे। जहाँ तक सेना का सम्बन्ध है, वह उसे स्वीकार अवश्य करते हैं, किन्तु सेना विध्वंसक और विनाशक न होकर शान्ति–सेना के रूप में होगी। इन शान्ति सेनाओं का कार्य किसी देश पर आक्रमण करना नहीं होगा और न देश में दमन करना। इन सेनाओं में शस्त्र का प्रयोग कम से कम होगा। ये सेवा, प्रेम और दया से शत्रु का हृदय जीतेगी।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि यदि सशस्त्र युद्ध अनिवार्य हो गया हो, तो युद्ध में भाग लिया जाए या नहीं? इस शंका का समाधान गाँधी जी इस प्रकार करते हैं, ''जब दो राष्ट्र लड़ रहे हों, तब अहिंसा के पुजारी का कर्तव्य है कि लड़ाई बन्द कराये। जो इस कर्तव्य–पालन में समर्थ नहीं है, जिसमें युद्ध–विरोध करने की शक्ति नहीं है, जिसमें लड़ाई रोकने की योग्यता नहीं है, वह लड़ाई में भाग लेकर भी अपने आपको, अपने राष्ट्र को और संसार को युद्ध से मुक्त करने की पूरे दिल से कोशिश कर सकता है।''

(ग) अहिंसा की अवधारणा की मौलिकता– संक्षेप में, गाँधी जी की अहिंसा की अवधारणा नकारात्मक और सकारात्मक दोनों हैं – मन, वचन, कर्म से हिंसा न करना तो आवश्यक ही है, इसके साथ–साथ विपक्षी को शुद्ध हृदय से प्रेम करना अनिवार्य है। यह वैयक्तिक आचरण का ही अंग नहीं है, अपितु यह परिवार, समाज और राज्य की प्रत्येक नीति का भी आधार है; विश्व–संगठन का आधारभूत सूत्र है; यह स्वयं निष्क्रियता और कायरता पर आश्रित न हो कर असीम धैर्य, विपुल साहस, सुदृढ़ आत्मबल से पोषित और प्रेरित है; यह कल्पनावादी विचारणा नहीं है, अपितु, व्यावहारिक दर्शन है, प्रयोग–सिद्ध जीवन–शैली है तथा

अनुभूत सामाजिक–प्रणाली है; इसका लक्ष्य है सत्य की उपलब्धि, प्राणिमात्र का हित और समाज का पुनर्निर्माण।

5. ब्रह्मचर्य

(क) ब्रह्मचर्य का पूर्ण अर्थ– ब्रह्मचर्य का प्रचलित अर्थ जननेन्द्रिय का संयम है। गाँधी जी इस अर्थ को अपूर्ण मानते हैं। उनका मत है कि इस अपूर्ण अर्थ–बोध के कारण ही इसे व्यावहारिक रूप देने में कठिनाई होती है। ब्रह्मचर्य जननेन्द्रिय ही नहीं, बल्कि समस्त इन्द्रियों के संयम से सम्बन्धित है। इसका मूल अर्थ विकार या वासना का निरोध है। विकार का सम्बन्ध केवल जननेन्द्रिय से ही नहीं, अन्य इन्द्रियों से भी है। मन में वासना का उदय तो जीभ, आंख, कान, हाथ के माध्यम से भी उत्पन्न हो सकता है। जब इनमें से किसी एक या अधिक अंगों के कारण मन में विकार का उदय होगा, तो जननेन्द्रिय को नियन्त्रित करना असम्भव हो जाता है। अतः, ब्रह्मचर्य को व्यवहार्य बनाना है, इसे असम्भव और असाध्य नहीं करना है, तो इसका पूर्ण अर्थ ही ग्रहण करना पड़ेगा। गाँधी जी का अपना व्यक्तिगत अनुभव है कि अन्य इन्द्रियों के संयम से जननेन्द्रिय का संयम तुरन्त सफल हो जाता है। इसलिए हम यह भी कह सकते हैं कि गाँधी जी की ब्रह्मचर्य की व्याख्या व्यावहारिक है।

यह कहने की विशेष आवश्यकता नहीं है कि ब्रह्मचर्य उसी अवस्था में पूर्ण होगा, जब इसका पालन मन, वचन और कर्म से हो। कर्म और वचन का संयम तो हो, किन्तु मन वासना के चिन्तन से मुक्त न हो सके, तो वह पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है। जो शरीर को तो नियन्त्रित रखता है; किन्तु मन को वासना या विकार को चिपटाए रहता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है तथा शरीर को हानि भी पहुँचाता है। इस संदर्भ में उनका स्पष्ट मत है कि मन को विकारग्रस्त होने देना एक बात है और मन का अपने आप, अनिच्छा से, बलात्कार से विकारग्रस्त हो जाना दूसरी

बात है। पहली स्थिति में मनुष्य मन में इच्छा से विकार लाता है, मन को छूट देता है, अतः अनुचित है। दूसरी स्थिति में मनुष्य के प्रयत्न की विफलता का भाव है। जहाँ प्रयत्न नहीं है, वहाँ सफलता का स्वप्न व्यर्थ है; किन्तु जहाँ सतत् प्रयत्न है, अनवरत चेष्टा है, वहाँ विफलताओं के होते हुए भी सफलता सम्भव है। अतः ब्रह्मचर्य मुख्यतः मन की ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति से सम्बन्धित है।

(ख) ब्रह्मचर्य का लक्ष्य – सामान्यतः ब्रह्मचर्य का लक्ष्य संतति–निग्रह या शरीर–रक्षण माना जाता है। प्रारम्भ में गाँधी जी भी यही समझते थे; किन्तु बाद में उनको यह भ्रम प्रतीत हुआ और उन्हें इसके ऊँचे लक्ष्य का बोध हुआ। उनके मत से ब्रह्मचर्य का मुख्य लक्ष्य ब्रह्म–दर्शन है। इसीलिये उन्होंने ब्रह्मचर्य शब्द की यह व्याख्या स्वीकार की– ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की–सत्य की शोध में चर्या, तत्सम्बन्धी आचार। सत्य–शोध के लिए विकार–रहित मन की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य अर्थात् इन्द्रियों के निग्रह के अभाव में मन विकार–रहित नहीं हो सकता है। अतः, सत्य की उपलब्धि के लिए ब्रह्मचर्य अपरिहार्य है।

इसका यह आशय नहीं है कि वह ब्रह्मचर्य के अन्य उद्देश्यों को स्वीकार नहीं करते हैं। वह स्पष्ट रुप से स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मचर्य से शरीर–रक्षण, बुद्धि–रक्षण और आत्म–रक्षण होता है; बढ़ती हुई जनसंख्या पर प्रतिबन्ध लगता है, समाज–सेवकों को पारिवारिक चिन्तओं से छुटकारा मिलता है, महान कार्यों के पूरा करने में मन पूरा साथ देता है, विवाहित स्त्री–पुरुष में स्वार्थ–रहित प्रेम उत्पन्न होता है। गाँधी जी ने स्वयं 1906 में जब ब्रह्मचर्य–व्रत लिया था, उस समय उनके सामने लोकसेवा में तन्मय होने और सन्तान–बुद्धि से बचने का ही भाव मुख्य था। जब उन्होंने भारतवर्ष में जनसाधारण को ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया, तो उनके मन में अध्यात्म–दर्शन की अपेक्षा समाज–दर्शन का अधिक प्रभाव था, जो उनकी इन पंक्तियों से स्पष्ट है : ''मैं मानता हूँ कि आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने के लिए मन, वचन, कर्म से पूर्ण

संयमी जीवन आवश्यक है। जिस राष्ट्र में ऐसे मनुष्य नहीं होते, वह इसी कमी के कारण दरिद्र है। जबकि हम अपने को असहाय, रोगग्रस्त और अकाल–पीड़ित पाते हैं, उस समय यदि प्रजोत्पत्ति के क्रम को जारी रखेंगे तो गुलामों और क्षीणकायों को संख्या ही बढ़ेगी। हमें तब तक बच्चा पैदा करने का अधिकार नहीं है, जब तक भारत स्वतन्त्र राष्ट्र होकर भुखमरी का सामना करने के योग्य, अकाल के समय खिला सकने में समर्थ और मलेरिया, हैजा, प्लेग तथा दूसरी बड़ी बीमारियों से निपटने की योग्यता से परिपूर्ण न हो जावे। यदि विवाहित पुरुष अपने देश का भला चाहते हैं और भारत को बलवान, रूपवान और सुडौल स्त्री–पुरुषों का राष्ट्र बनाना चाहते हैं, तो वे पूर्ण आत्म–संयम का पालन करें और फिलहाल बच्चे पैदा करने बन्द कर दें।''

(ग) ब्रह्मचर्य की व्यावहारिकता – गाँधी जी ने कहा है कि सत्य–शोध और मानव–सेवा का कार्य पूर्ण ब्रह्मचर्य द्वारा ही सफलतापूर्वक सम्भव है। अतः सत्य–शोधक को अविवाहित रहना चाहिये, और जो विवाह कर चुके हैं, उन्हें ब्रह्मचर्य पालन करते हुए भाई–बहिन की तरह रहना चहिए। ये दोनों बातें साधारण मनुष्य के लिए सहज साध्य नहीं है। अतः कुछ लोगों ने गाँधी जी की पूर्ण ब्रह्मचर्य की अवधारणा को कल्पनावादी घोषित किया।

गाँधी जी के ब्रह्मचर्य सम्बन्धी सम्पूर्ण विचारों को पढ़ने के बाद ज्ञात होता है कि वह कल्पनावादी और अव्यावहारिक नहीं हैं, अपितु हम निराशावादी और अज्ञानी हैं, जिसके कारण उनके विचारों को ठीक से आत्मसात नहीं कर पाते हैं।

गाँधी जी को यह भ्रम नहीं था कि समाज के सब लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने लगेंगे और विवाह संस्था का उन्मूलन हो जाएगा तथा सृष्टि का क्रम रोक दिया जाएगा।

वस्तुतः उनका विश्वास था कि आदर्श का पूर्णरूप से पालन मनुष्य की शक्ति से परे है : क्योंकि आदर्श असीम होता है। किन्तु आदर्श का मार्ग इतना कल्याणकारी है कि जो इस मार्ग पर जितना अधिक आगे बढ़ेगा, उसे उतना ही अधिक लाभ होगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति और सीमाओं के अनुसार उच्च आदर्शों की ओर बढ़ते रहना चाहिए। प्रत्येक को अपने प्रयत्न के अनुसार फल प्राप्त होगा। जो लोग पूर्ण सफलता को असम्भव समझ कर अपने को निश्चेष्ट छोड़ देते हैं, उनके लिए कल्याण की उपलब्धि दिवास्वप्न है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति के लिए उच्च आदर्श की ओर उन्मुख और अग्रसर होना ही श्रेय और प्रेय है। गाँधी जी ब्रह्मचर्य को उच्च आदर्श मानते हैं, जिसका पूर्ण पालन सामान्य रूप से असंभव है; किन्तु वह अपने तथा अपने अनेक साथियों के अनुभव के आधार पर यह भी जानते हैं कि बहुत दूर तक इसका पालन सम्भव भी है। जो व्यक्ति इसका जितना अधिक पालन कर सके, उतना ही ठीक है; किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण मनोयोग से प्रयत्नशील होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अविवाहित रह कर मन पर नियन्त्रण नहीं कर सकता है, तो उसे विवाह कर लेना चाहिए; किन्तु विषय भोग का गुलाम नहीं बनना चाहिए। विवाहित जीवन में ब्रह्मचर्य उसी समय भंग करना चाहिए, जब सन्तान पैदा करने की इच्छा हो। ''इस विचार को ध्यान में रखकर जो लोग चार या पांच वर्ष में एक बार ब्रह्मचर्य भंग करते हैं, वे वासना के गुलाम नहीं हो जाते और न उनके वीर्यधन के भंडार में कुछ विशेष घाटा होता है।'' जो लोग ऐसा न कर सकें, वे क्या करें? क्या वे आत्महत्या कर लें, अथवा अपने को पापी मान कर मन को अशान्त रखें? इस सम्बन्ध में भी उनका स्पष्ट मत है, ''यदि पति और पत्नी में सम्भोग करने में यह उच्च उद्देश्य हर समय कायम न रह सके, तो इसे पाप समझने की कोई आवश्यकता नहीं और न इसमें कोई निन्दा की बात है। ××× ऐसे लोग प्रकृति के नियमों को तोड़ कर चलने के लिए सैकड़ों बीमारियों के शिकार रहेंगे। पूर्ण ब्रह्मचर्य तथा विवाहित ब्रह्मचर्य उन लोगों के

लिए है, जो आध्यात्मिक या उच्चतर जीवन के इच्छुक हैं।'' इसके अतिरिक्त गाँधी जी ने यह भी सावधान किया है कि कोई व्यक्ति अपनी सीमाओं से बाहर न जाए। ब्रह्मचर्य का व्रत जिससे जितना बन सके, उतना ही पालन करे। ढोंग न करे। संयम स्वास्थ्य के लिए हितकर है; किन्तु संयम में जो मन को नियन्त्रित नहीं रख पाता और अपना स्वास्थ्य नष्ट करता है, उसे अपनी सीमाओं का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार गाँधी जी अपने अनेक पूर्ववर्तियों की तरह कोरे सिद्धान्तवादी या कल्पनावादी नहीं हैं, बल्कि पूर्ण व्यावहारिक हैं।

6. अस्तेय

गाँधी जी के चिन्तन में अस्तेय की अवधारणा का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अस्तेय का अर्थ है – चोरी न करना। गाँधी जी चोरी का सामान्य अर्थ न लेकर सूक्ष्म अर्थ लेते हैं और इस प्रकार चोरी के कई भेद करते हैं। 1. किसी की वस्तु को बिना बताए या छिपा कर ले लेना चोरी है। 2. किसी की वस्तु को, उसकी जानकारी में, बिना पूछे लेना चोरी है। 3. कोई वस्तु आवश्यकता न होने पर मांग कर ले लेना चोरी है। 4. कोई वस्तु भविष्य के लिए संग्रह करना चोरी है। 5. अपनी ही वस्तु अपने घर वालों या मित्रों से छिपा कर प्रयोग करना चोरी है। 6. ''मन से हमारा किसी की चीज पाने की इच्छा करना, उस पर नजर डालना चोरी है।'' 7. लावारिस पड़ी चीज को अपने पास रख लेना चोरी है।

चोरी की इस व्याख्या में दो बातें विशेष हैं – पहली, आवश्यकता न होने पर मांग या खरीद कर भी वस्तु को संग्रह करना या भविष्य के लिए सुरक्षित रखना चोरी है और दूसरी, दूसरे की वस्तु को देख कर उसे प्राप्त करने की इच्छा करना चोरी है। दूसरे प्रकार की चोरी के सम्बन्ध में गाँधी जी की धारणा यह है कि विचार ही व्यक्ति को क्रिया के लिए विवश करते हैं। आज जिस वस्तु के पाने की इच्छा व्यक्ति के मन में होगी, वह कल उसी के पाने के लिए

उचित–अनुचित उपायों का अनुसरण करेगा। गांधी जी व्यक्ति को इस अपराध से बचाने के लिए उसकी इस अधोगामी मानसिक क्रिया के प्रति सावधान करते हैं। जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, इसमें सामाजिक व्यवस्था का बहुत बड़ा नियम निहित है। यह अस्तेय की सामाजिक व्याख्या है। अधिकांशतः इस नियम के न पालन करने के कारण ही समाज में उपभोग की वस्तुओं का अकाल होता है। प्रायः जिस चीज की कुछ कमी अनुभव होती है, लोग उसका संग्रह शुरू कर देते हैं। जब सरकार राशनिंग करती है, तो गलत या जाली कार्ड बनवाकर आवश्यकता से अधिक वस्तु लेने लगते हैं। यह प्रवृत्ति व्यक्ति और समूहों तक ही सीमित नहीं है; बड़े–बड़े राज्य दूसरे राज्यों को हड़पते हैं, वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह करके दूसरे देशों के लिए समस्या उत्पन्न करते हैं। गांधी जी की नीति से इस कोटि की सब बातें चोरी के अन्तर्गत आएंगी।

7. अपरिग्रह

अपरिग्रह अस्तेय का अगला कदम है, इसी से सम्बन्धित है। अस्तेय में बिना पूछे या पूछ कर अनावश्यक रूप से किसी की वस्तु लेना अनुचित है, और अपरिग्रह में अपनी ही वस्तु या अपने पैसे से खरीद कर अनावश्यक रूप से संग्रह करना अनुचित है। अस्तेय का अर्थ चोरी न करना है और अपरिग्रह का अर्थ है – संग्रह न करना। गांधी जी कहते हैं कि परिग्रह (संग्रह करना) चोरी तो नहीं है; किन्तु चोरी की ही तरह का काम है।

गांधी जी का निश्चित मत है कि प्रकृति नित्य इतना पैदा करती है, जिससे पृथ्वी के समस्त मनुष्यों की आवश्यकताएँ पूरी हो जायें, किन्तु अधिकांश लोग अपनी आवश्यकता से अधिक संग्रह करके दूसरों का हिस्सा अपने पास रख लेते हैं, उन्हें अभावग्रस्त बना देते हैं। लोगों की इस परिग्रह की प्रवृत्ति के कारण ही संसार में भुखमरी और गरीबी फैलती है। यदि

प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र अपनी आवश्यकता से अधिक कोई वस्तु संग्रह न करे, तो किसी को अभाव न हो।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि वास्तविक आवश्यकता की कसौटी क्या है? इस सम्बन्ध में गांधी जी उच्च आदर्श प्रस्तुत करते है, ''आदर्श, आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसी को कहा जाएगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। यहां तक कि वह पक्षी की भांति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करता है।'' वह स्वीकार करते हैं कि यह स्थिति अवधूत की होती है, जिसे साधारण मनुष्य नहीं प्राप्त कर सकता है। सर्वसाधारण का यह कर्तव्य है कि वह अपनी आवश्यकताओं को अधिकतम–सीमित करे। इस सम्बन्ध में उनका दूसरा आदर्श यह है कि व्यक्ति को किसी ऐसी वस्तु की इच्छा ही नहीं करनी चाहिए, जो राष्ट्र के छोटे–से–छोटे व्यक्ति को प्राप्त न होती हो। वह स्वयं तथा उनके अनेक अनुयायी इस आदर्श का पालन करते थे।

गांधी जी की अपरिग्रह की अवधारणा में समाज का बहुत बड़ा दर्शन निहित है। यदि संसार इस अपरिग्रह–व्रत के पालन की ओर उन्मुख हो जाए, तो अनेक राजनीतिक–आर्थिक समस्याओं का समाधान स्वयं हो जाए। यही बात साम्यवादी और समाजवादी भी कहते हैं। अन्तर केवल इतना है कि साम्यवादी सत्ता और हिंसा से समाज की परिग्रही वृत्ति को छुड़ाना चाहते हैं और गांधी जी मनुष्य की दैवी प्रवृत्ति को जागृत करके स्थायी समाजवाद लाना चाहते हैं। गांधी जी स्पष्ट रूप से पूंजीवादी वर्ग और गरीब वर्ग की प्रवृत्ति से परिचित थे। वह कहते हैं, ''करोड़पति अरबपति होने के छटपटाता है, उसे संतोष नहीं रहता, कंगाल करोड़पति होना चाहता है। उसे पेट भरने भर को ही पाकर संतोष होता दिखाई नहीं देता; परन्तु कंगाल को पेट भर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे उतना प्राप्त करा दे। अतः उसके और अपने संतोष के लिये शुरुआत धनी को करनी चाहिये। वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग

दे, तो दरिद्र के काम भर को सहज में मिल जाए और दोनों पक्ष संतोष का सबक सीखें।'' यहां गांधी जी ने आर्थिक विषमता की समस्या का अधिक मनोवैज्ञानिक और निष्पक्ष विश्लेषण किया है। वह साम्यवादियों या समाजवादियों की तरह केवल पूंजीवादी वर्ग को दोषी नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में गरीब भी दोषी है; क्योंकि वह मन से संतोषी या अपरिग्रही नहीं है, उसके मन में भी करोड़पति बनने की लालसा है। समाज की यह परिग्रह या असन्तोष की मनोवृत्ति ही समस्या की जड़ है। यदि मनुष्य मन से संतोषी और अपरिग्रही हो जाए, तो समाज में आर्थिक विषमता दूर हो जाए और सच्चा सुख और सच्चा संतोष प्राप्त हो जाए। इसीलिए वह अमीर से परिग्रह–वृत्ति त्यागने के लिए कहते हैं और गरीब से संतोषी होने के लिये कहते है। साम्यवादी गांधी जी पर यह आरोप लगाते हैं कि गांधी जी गरीब को संतोष का पाठ सिखाकर नंगा–भूखा रखना चाहते हैं। लेकिन वस्तुस्थिति यह नहीं है। गांधी जी तो कहते हैं कि गरीब को पेट भरने का अधिकार है और समाज का धर्म हैं कि वह उसे उतना प्राप्त करा दे; अमीर से कहते है कि वह अपना संग्रह त्यागकर गरीब की ही श्रेणी में आ जाए, अमीरी और गरीबी तो सापेक्ष हैं। जब अमीरी न रहेगी, तो गरीबी भी न रहेगी। जब अमीर बनने की भावना भी नहीं रहेगी, तो स्थायी साम्यवाद आएगा।

गांधी जी के अपरिग्रह का लक्ष्य केवल समाज की आर्थिक विषमता दूर करना ही नहीं है। इसका इससे भी उच्चतम लक्ष्य है और वह है – आत्मा का मोक्ष। परिग्रह मन के विकारग्रस्त होने का लक्षण है। विकारग्रस्त मन सत्य–शोध का कार्य नहीं कर सकता है, जो मनुष्य का चरम लक्ष्य है। सत्य–शोध का एकमात्र मार्ग है, प्राणिमात्र की मन–वचन–कर्म से सेवा करना, पूर्ण रूप से परार्थी होना। सेवा में पूर्ण त्याग और समर्पण की अपेक्षा होती है। परिग्रही व्यक्ति तो स्वार्थी होता है। वह सेवा, त्याग और सत्य के मार्ग पर नहीं चल सकता है।

''परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा संतोष बढ़ता जाता है, सेवा–शक्ति बढ़ती जाती है। ××× यों, विचार करते हुए हम आत्यन्तिक त्याग को पहुंच जाते हैं और शरीर की स्थिति पर्यन्त उसका उपयोग केवल सेवार्थ करना सीख जाते हैं और यहां तक कि सेवा ही उसकी खुराक हो जाती है। ×× इस प्रकार बरतने वाला मनुष्य अंत में सत्य की झांकी करेगा।''

निष्कर्ष रूप में, गांधी जी का अपरिग्रह– व्रत वैयक्तिक धर्माचरण का अंग है, व्यक्तित्व के विकास का साधन है, आध्यात्मिक उन्नति का सूत्र है; किन्तु साथ ही साथ यह सामाजिक विषमता, वर्ग–संघर्ष, विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता को समाप्त करने का एक शान्तिपूर्ण उपाय भी है तथा स्थायी समाजवादी समाज की स्थापना का सुचिन्तित सामाजिक सूत्र भी है।

8. प्रार्थना

प्रार्थना प्रत्येक धर्म का आवश्यक अंग है। गाँधी जी की धर्म की अवधारणा में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह इसे धर्म का सार मानते हैं।

गाँधी जी प्रार्थना को प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति का अनिवार्य कर्त्तव्य अवश्य मानते हैं; किन्तु वह इसके जनसाधारण में प्रचलित रूप से असन्तुष्ट हैं। वह कहते हैं, ''दुर्भाग्य से प्रार्थना आजकल दम्भपूर्ण नहीं तो यान्त्रिक और नाममात्र की जरूर हो गई है।'' सामान्यतः लोग व्यक्तिगत स्वार्थों की सिद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं। गांधी प्रार्थना को क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि का साधन नहीं मानते हैं, अपितु उनके लिए तो यह आत्म–शुद्धि का उपाय है, आध्यात्मिक अनुशासन है, आत्मनिरीक्षण का आह्वान है, हृदय के विश्लेषण की क्रिया है, और अन्ततः, संसार में सर्वत्र परिव्याप्त ईश्वरीय शक्ति में अपने–आप को खो देने की सतत आकांक्षा है।

आध्यात्मिक विकास और पारलौकिक सफलताओं हेतु प्रार्थना करने के लिए तो बहुत लोगों ने जोर दिया, किन्तु प्रार्थना का समाजीकरण बहुत कम लोगों ने किया है। गांधी जी इस दिशा में सबसे आगे हैं। वह कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में सुख–दुःख, सत्–असत्, प्रकाश–अन्धकार का संघर्ष चला करता है। इस संघर्ष में भौतिक साधनों से विजय नहीं मिलती है, बल्कि आत्मिक उपायों से मिलती है। अनेक भौतिक और सांसारिक सफलताएं प्राप्त करने के बाद भी कोई हृदय से शान्त नहीं रह सकता है। असफलतायें और निराशायें ंतो मनुष्य को उद्विग्न कर ही देती हैं। जब मनुष्य का मन शान्त नहीं होगा, तो उसका किसी अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध भी शान्तिपूर्ण नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति स्वयं अपने दुःखों को बढ़ाएगा और अन्य लोगों को भी दुःखी करेगा। समाज में दुःख और अशान्ति कोई नहीं चाहता है। सुख और शान्ति सबका लक्ष्य है। गांधी जी का मत है कि यदि व्यक्ति पारलौकिक जीवन के अतिरिक्त इस लौकिक जीवन में शान्ति और व्यवस्था चाहता है, संसार के अन्य लोगों से शान्तिपूर्ण सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, अपने दैनिक कार्यों में व्यवस्था और सामञ्जस्य प्राप्त करना चाहता है, तो इसका एकमात्र उपाय प्रार्थना है। उनका व्यक्तिगत अनुभव है कि प्रार्थना से उन्हें बड़े–बड़े संकटों में भी शान्ति मिली है।

गांधी जी कहते हैं कि प्रार्थना में व्यक्ति को अपने मन को समस्त बाहरी बातों से हटाकर ईश्वर की ओर केन्द्रित करना पड़ता है। जो व्यक्ति जितना अधिक और जितनी देर तक अन्तर्मुखी हो पाता है, वह उतना ही अधिक सफल मनुष्य है। किन्तु यह कार्य बड़ा कठिन है। साधारण मनुष्य के लिए कुछ क्षणों के लिए भी प्रार्थना में तन्मय होना कठिन हो जाता है। यह मनुष्य के मन की दुर्बलता है, स्वभाव की विवशता है। बहुत से लोग दिन रात माला जपा करते हैं, ईश्वर का नाम लिया करते हैं, किन्तु ऐसे लोगों का मन इधर–उधर भटका करता है। यह स्थिति ठीक नहीं है। ऐसी प्रार्थना वास्तव में प्रार्थना नहीं ढोंग है। वह इस स्थिति से

मुक्त होने के लिए एक उपाय बताते हैं, और यह उपाय है– समाज–सेवा या मनुष्य–सेवा। जो व्यक्ति पूर्ण मनोयोग से जितना अधिक सेवा–धर्म में लीन होता है, वह उतना ही अधिक ईश्वर के निकट पहुंचता है। सेवा दुःखी और दरिद्रों की करनी चाहिए। इनकी निष्काम सेवा से मनुष्य का हृदय स्वयं पवित्र और शुद्ध होता है। अतः गांधी जी के मत से मानव–सेवा ही सच्ची प्रार्थना है।

गांधी जी प्रार्थना में किसी विशेष प्रकार की क्रिया, किसी विशेष देवता के ध्यान का आग्रह नहीं करते हैं। जो जिस रूप में चाहे, प्रार्थना करे। वह अपनी प्रार्थना में सभी धर्मों की प्रार्थनायें कराते थे। उनकी प्रार्थना का एकमात्र लक्ष्य संसार को संचालित करने वाली सत्ता को साक्षी मानकर आत्म–निरीक्षण करना है। प्रार्थना की ''घड़ियों में मनुष्य अपनी पिछली बातों पर विचार करता है, अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करता है, क्षमा–याचना करता है और अधिक अच्छा बनने और करने के लिए बल मांगता है।'' प्रार्थना का यही कार्य है। व्यक्ति जिस रूप में चाहे, इस कार्य को करे। किसी विशेष पद्धति या विधि की आवश्यकता नहीं है। यदि किसी व्यक्ति का हृदय शुद्ध और निर्मल है, तो गांधी जी के अनुसार उसे किसी औपचारिक प्रार्थना की आवश्यकता नहीं है। उसका कर्म और श्रम ही प्रार्थना है।

वस्तुतः गांधी जी की प्रार्थना व्यक्तित्व के विकास की एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। कोई व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का अधिकतम विकास उसी अवस्था में कर सकता है, जब उसे अपनी त्रुटियों और दुर्बलताओं का यथेष्ट ज्ञान हो। मनुष्य की दुर्बलतायें उसके व्यक्तित्व के विकास के मार्ग की बाधायें होती हैं। यदि ये बाधायें दूर हो जायें, तो विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। गांधी जी प्रार्थना में मनुष्य को एकाग्रचित्त होकर अपने दोषों और दुर्बलताओं को स्वीकार करने और भविष्य के लिए अधिक आत्मबल के साथ दृढ़ संकल्प होने के लिए कहते हैं। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा–पद्धति में चिकित्सक रोगी के आत्म–बल को ही सुदृढ़ करता है।

जीवन में सफल व्यक्तित्व के लिए सशक्त आत्म–बल की आवश्यकता होती है। गांधी जी की प्रार्थना की अवधारणा इसी कार्य को मनोवैज्ञानिक रीति से सम्पन्न करती है।

अतः गांधी जी की प्रार्थना बाह्य धर्माचरण तथा यान्त्रिक क्रिया नहीं है, वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए की जाने वाली हीन याचना भी नहीं है, यह तो आत्म–निरीक्षण और विश्लेषण की मनोवैज्ञानिक प्रणाली है, स्वदोष–दर्शन की पद्धति है, मनोबल सशक्त करने की रीति है, आत्म–शुद्धि की प्रक्रिया है; इसका साध्य है– मानव के व्यक्तित्व का अधिकतम विकास, शान्ति और व्यवस्थित सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण और सम्पूर्ण सृष्टि से तादात्म्य; तथा इसका साधन है मन, वचन और कर्म से मानव–सेवा।

9. उपवास

हिन्दू धर्म में उपवास की बड़ी महत्ता है। प्रत्येक सनातनी हिन्दू वर्ष में कुछ उपवास करता है। कुछ लोग तो प्रत्येक मास में चार छह उपवास करते हैं। गांधी जी की माता जी भी बहुत उपवास करती थीं। गांधी जी ने भी उपवास की प्रणाली को ग्रहण किया; किन्तु उन्होंने इसे वैयक्तिक जीवन तक सीमित न रख कर सार्वजनिक जीवन में भी इसका उपयोग किया। उनके उपवास भारत के राजनैतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाएं बन गए। यहाँ पर संक्षेप में हम गांधी जी की उपवास अवधारणा पर विचार करेंगे।

गांधी जी का मत है कि मनुष्य के आध्यात्मिक विकास के लिए इन्द्रियों को नियन्त्रित करना नितान्त अनिवार्य है। उनका अपना अनुभव है कि इन्द्रियों के नियन्त्रण में उपवास सर्वोत्तम साधन है। सच्चे हृदय से किया हुआ उपवास शरीर, मन और आत्मा तीनों को शुद्ध करता है। अतः उपवास केवल यान्त्रिक धार्मिक आचरण का अंग ही नहीं है, अपितु यह मनुष्य के शुद्धीकरण की प्रक्रिया है।

सामान्यतः निराहार रहना या अल्पाहार करना ही उपवास माना जाता है। गांधी जी इसे उपवास का अपूर्ण रूप मानते हैं। उनका विचार है कि उपवास का केवल जिह्वा से ही सम्बन्ध नहीं है, बल्कि समस्त इन्द्रियों से सम्बन्ध है। वास्तविक उपवास में शरीर के उपवास के साथ–साथ समस्त इन्द्रियों का उपवास होना चाहिए। ''सम्पूर्ण उपवास 'स्व' का सम्पूर्ण त्याग है।'' अन्न–जल तक न लेना केवल प्रारम्भ मात्र है, सम्पूर्ण त्याग का लघुतम भाग है।

गांधी जी का अनुभव है कि पेट भर आहार स्वास्थ्य के लिए हितकर नहीं। अधिक खाने से शरीर को क्षति होती है, कम खाने से नहीं। इसके अतिरिक्त जो लोग खाते हैं, वे दूसरों का हिस्सा खाते हैं। अतः प्रत्येक मनुष्य को सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से भी कम खाना चाहिए, अर्थात् मनुष्य को अल्पाहार या मिताहार का अभ्यास करके आंशिक उपवास सदा करना चाहिए, और दूसरों के भोजन को छीनने के अपराध से मुक्त रहना चाहिए। अल्पाहार के नियम को भंग करना सामाजिक न्याय के नियम को भंग करना है।

गांधी जी ने प्रारम्भ में उपवास का प्रयोग केवल अपनी आत्मा की शुद्धि या अपनी भूलों के प्रायश्चित के लिए तो किया, किन्तु बाद में उन्होंने इसे सार्वजनिक जीवन की शुद्धि के लिए भी अपनाया। इस प्रकार उपवास वैयक्तिक साधन से सामाजिक साधन बन गया। उनका सर्वप्रथम सार्वजनिक उपवास दक्षिणी अफ्रीका में हुआ था। भारतवर्ष में प्रथम उपवास अक्टूबर 1918 में अहमदाबाद में मिल मजदूरों की हड़ताल के सम्बन्ध में किया था और अन्तिम उपवास 13 जनवरी 1948 को साम्प्रदायिक दंगों के विरुद्ध किया था। इनके अतिरिक्त उनके अन्य छोटे–बड़े उपवास हुए।

इन सार्वजनिक उपवासों के समय दिए गए उनके वक्तव्यों से जो निष्कर्ष निकलते हैं, उनका आशय यह है कि सार्वजनिक उपवास जनता की आत्मशक्ति या मनोबल की वृद्धि कर सकता है, पिछली भूलों के प्रति सावधान कर सकता है, किसी अन्याय या अत्याचार का अहिंसक प्रतिरोध कर सकता है, विपथगामी लोगों में सद्भावना का संचार कर सकता है। वह

इसे अन्तिम साधन मानते हैं, अर्थात् मनुष्य के जब सब प्रयत्न विफल हो जाएं, तो ईश्वर द्वारा सहायता प्राप्त करने का उपाय उपवास है। उन्होंने 13 जनवरी 1948 को किए गए उपवास के समय कहा था; ''मानव–प्रयत्न के रूप में मेरे सारे साधन समाप्त हो गए। ×× तब मैंने अपना सिर ईश्वर की गोद में रख दिया। ×× ईश्वर ने मेरे लिए उपवास भेजा। ×× मेरा उपवास आत्म–शुद्धि की प्रक्रिया है और इसका अभिप्राय उन सबको आत्म–शुद्धि की इस प्रक्रिया में भाग लेने को आमन्त्रित करना है, जिनकी इस उपवास के उद्देश्य से सहानुभूति हो।''

पाठकों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि गांधी जी की इस उपवास–पद्धति ने भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन की समस्याओं के समाधान में आश्चर्यजनक प्रभाव डाला। अनेक अवसरों पर गांधी जी ने अपने उपवासों से निर्मम शासकों या उत्तेजित जनता का हृदय–परिवर्तन किया। उनके 1924 के 21 दिन के उपवास के बाद कलकत्ता के लार्ड बिशप डा0 फासवैस्टकाट ने अपने सन्देश में कहा था : ''जहाँ स्पष्ट एवं प्रबल राजनीतिक युक्तियाँ पूर्णतः विफल हो गई थीं, महात्मा गांधी के उपवास द्वारा उत्पन्न धार्मिक प्रेरक भाव सफल हुए।'' 1947 में उनके अन्तिम उपवास के पश्चात् पाकिस्तान के विदेश मन्त्री सर मोहम्मद जफरुल्ला खां ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद को सूचना दी थी–''उपवास की प्रतिक्रिया–स्वरूप दोनों उपनिवेशों के बीच मैत्री की भावना तथा इच्छा की एक नई और जबरदस्त लहर ने सम्पूर्ण उपमहाद्वीप को ढक लिया है।'' यद्यपि यह निश्चित है कि गांधी जी की इस पद्धति से समस्याओं का आंशिक या अस्थायी समाधान हुआ, किन्तु उस समय इन आंशिक समाधानों ने ही समाज की व्यवस्था में बहुत बड़ा योगदान किया।

प्रायः देखा जाता है कि समाज में सद्–साधनों को विकृत किया जाता है। गांधी जी की उपवास की पद्धति का भी भारत में बहुत दुरुपयोग हुआ है। आजकल अनेक लोग भूख हड़ताल या अनशन करके अपने विपक्षी पर दबाव डालते हैं, अनुचित मांगों के मनवाने के लिए प्रयत्न करते हैं। ऐसे लोग या तो गांधी जी की उपवास की अवधारणा को ठीक–ठीक समझते

नहीं हैं, अथवा वे जानकर भी इसका दुरुपयोग करते हैं। गांधी जी इस बात को भली प्रकार समझते थे। उन्होंने स्वीकार किया है कि उपवास का दुरुपयोग हो सकता है या भ्रमवश लोग इसका दुरुपयोग कर सकते हैं। कुछ लोगों ने तो उन पर भी यह आरोप लगाया है कि उनके उपवास विपक्षी पर दबाव डालने के लिए हुए हैं। किन्तु उन्होंने अनेक अवसरों पर स्पष्ट किया कि शुद्ध भाव से किया गया उपवास विपक्षी पर दबाव नहीं है और यदि किसी के उपवास से विपक्षी पर दबाव पड़ता है, तो वह अनुचित है। सबसे पहले तो उपवास किसी अनुचित हेतु या स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं होना चाहिये। यदि कोई व्यक्ति स्वार्थपूर्ति के लिए उपवास करता है, तो समाज को उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, भले ही उपवास करने वाले की मृत्यु हो जाए। दूसरे, उपवास में विपक्षी को विवश करने या बाध्य करने का भाव नहीं है। यह तो विपक्षी के हृदय को जगाने की प्रणाली है, उसकी बुद्धि में सद्प्रवृत्ति उत्पन्न करने की रीति है। इसमें विपक्षी को कष्ट न देकर स्वयं कष्ट सहन किया जाता है। यह तो ईश्वर से प्रार्थना करने का रूप है। जब मनुष्य के पास कोई शान्तिपूर्ण उपाय न रहे, तो उसे ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए। यह प्रार्थना अन्तस्तल से होनी चाहिए। ऐसी प्रार्थना तभी सम्भव होती है, जब व्यक्ति अत्यधिक कष्ट की दशा में होता है। उपवास स्वेच्छा से स्वीकार किया गया कष्ट है। सत्य रूपी ईश्वर विपक्षी के हृदय में भी होता है। आत्म–पीड़न विपक्षी के इसी ईश्वर या सत्य को जाग्रत करता है, और वह न्याय और सत्य के पथ पर आ जाता है। इसमें दबाव के लिए कोई स्थान नहीं है। ''दबाव के माने ये हैं कि किसी मनुष्य के विरुद्ध, जिससे शक्ति का प्रयोग करने वाला अपना कोई अभीष्ट काम कराने की आशा रखता है, कोई हानिकारक शक्ति काम में लाई जाए।'' उपवास में ऐसा नहीं होता है। इसमें तो उपवास करने वाला अपनी नैतिक शक्ति और आत्मबल से विपक्षी के मन पर प्रभाव डालता है। चूंकि उपवास करने वाला पवित्र और न्याय–संगत कार्य के लिए प्रभाव डालता है, इसलिए दबाव का प्रश्न नहीं उठता। दबाव में तो अन्याय और हिंसा का भाव है। उपवास में विपक्षी के मन में भय नहीं, प्रेम उत्पन्न किया जाता है। अतः यदि कोई उपवास स्वार्थ के लिए या अनुचित और असत् उद्देश्यों के लिए

किया जाता है, तो वह निश्चित ही दबाव भी है और हिंसा भी है। ऐसे उपवासों को गांधी जी न तो उपवास मानते हैं और न इनके सामने झुकने को कहते हैं। गांधी जी उपवास में सामाजिक सम्बन्ध को बहुत महत्त्व देते हैं। उनका मत है कि उपवास उन्हीं व्यक्तियों या समूहों के विरुद्ध होना चाहिए, जिनसे उपवास करने वाले का सामाजिक सम्बन्ध हो, जिनके आदर का पात्र वह पहले बन चुका हो। इसके अतिरिक्त किसी अन्याय या अनैतिक कार्य के विरुद्ध उपवास करने के पूर्व विवेक सहित यह जान लेना आवश्यक है कि अन्याय जान–बूझ कर हुआ है या अनजाने। अनजाने में हुए अपराध क्षम्य हैं। किसी दशा में अपने प्रति हुए अन्याय या अत्याचार के विरुद्ध उपवास नहीं करना चाहिए।

उपवास की इस अवधारणा से स्पष्ट होता है कि इसका दर्शन अति सूक्ष्म है। यह सामाजिक क्षेत्र में अन्याय और अनाचार के प्रतिरोध का एक प्रबल अस्त्र अवश्य है; किन्तु यह उच्चकोटि की नैतिकता और आध्यात्मिकता पर आधारित है। इसके प्रयोग के लिए उच्चकोटि के विवेक और असीम उदार हृदय की आवश्यकता है। निष्पाप और निष्कलुष हृदय ही उपवास का सामाजिक क्षेत्र में प्रयोग कर सकता है।

इस प्रकार गांधी जी की दृष्टि में उपवास यान्त्रिक धार्मिक क्रियामात्र नहीं है, अपितु व्यक्ति और समाज के विकास तथा परिष्कार की एक अनुभूत पद्धति है। व्यक्ति की दृष्टि से यह शरीर और आत्मा की शुद्धि की एक क्रिया है, आध्यात्मिक विकास की एक प्रणाली है, सत्य के साक्षात्कार की अनिवार्य आवश्यकता है; तथा समाज की दृष्टि से सामाजिक न्याय को को कार्यान्वित करने की त्यागपूर्ण नीति है, अन्याय और अनैतिकता के निराकरण का अंतिम अहिंसक अस्त्र है– बीसवीं शताब्दी का चामत्कारिक महान् अविष्कार है।

10. यज्ञ

हिन्दू धर्मशास्त्रों में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग आदिकाल से किया जा रहा है। वेदों में यज्ञ का ही यशोगान है। वेदमत से यज्ञरहित धर्म सम्भव नहीं है। वैदिक काल या पहले से चली आने वाली यज्ञ–प्रणाली किसी–न–किसी रूप में आज भी चली आ रही है। प्रायः छोटे–बड़े यज्ञ देश में होते रहते हैं।

गांधी जी जन्म से हिन्दू थे। अतः वह हिन्दू–धर्म के इस अपरिहार्य अंग को कैसे छोड़ सकते थे! उन्होंने यज्ञ पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वेदमन्त्रों के साथ अग्नि में अन्नादि का होम करना और पशुओं की बलि चढ़ाना यज्ञ नहीं है। यह यज्ञ का स्थूल और अतिभ्रामक अर्थ है। गांधी जी ने यज्ञ की सूक्ष्म और मानवतावादी व्याख्या प्रस्तुत की। ''यज्ञ वह कर्म है, जो दूसरों की भलाई के लिये किया जाए और जिसमें सांसारिक और आध्यात्मिक किसी भी प्रकार के बदले की इच्छा न हो। 'कर्म' का यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ करना चाहिए और उसमें शारीरिक कर्म की तरह ही मानसिक और वाचिक को भी सम्मिलित मानना चाहिए।''

गांधी जी ने गीता का सूक्ष्म अनुशीलन किया था। गीता में यज्ञ का उल्लेख होता है। गांधी जी के मत से गीता में यज्ञ शब्द का प्रयोग परमार्थ के भाव में ही किया गया है, अर्थात् निस्स्वार्थ भाव से प्राणिमात्र की सेवा करना ही यज्ञ है। जब यह कहा जाता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय होना चाहिए, तो इसका आशय निष्काम सेवा ही है। जो व्यक्ति मन, वचन, कर्म से जितना अधिक प्राणियों का कल्याण करता है, वह उतना ही श्रेष्ठ यज्ञ करता है। जब मनुष्य ही नहीं, अपितु अन्य प्राणियों की सेवा और कल्याण के भाव को स्वीकार कर लिया जाता है, तो बलि या हिंसा के लिये स्थान ही नहीं रह जाता है। गांधी जी का विचार है

कि यदि वेदों या अन्य धर्म–ग्रन्थों में यज्ञ में पशु–बलि आदि का विधान भी है, तो अहिंसा और सत्य को सर्वोपरि धर्म स्वीकार करने के बाद इसे (हिंसा को) स्वीकार नहीं करना चाहिए।

गांधी जी की यज्ञ की अवधारणा में जीवन और समाज से दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। अधिकांश रूढ़िवादी हिन्दू गृहस्थी और समाज को त्याग कर जंगलों में रहकर यज्ञ करना श्रेष्ठ धार्मिक आचरण समझते हैं। गांधी जी के अनुसार परिवार और समाज का अभिन्न अंग रहकर ही यदि व्यक्ति निष्काम सेवा करता है, तो उसका जीवन यज्ञमय होगा। ऐसा जीवन कलामय और रसयुक्त होगा।

हिन्दुओं की रूढ़ विवाह–विधि में सप्तपदी की क्रिया की व्यवस्था है। गांधी जी ने पति–पत्नी के लिये सप्तपदी के स्थान पर सात सेवा–यज्ञ रखे, जो इस प्रकार हैं : 1. विवाह–विधि के पूर्व पति–पत्नी उपवास रखें, 2. दोनों भूमि–सेवा और वनस्पति सेवा करें, 3. जलाशय–शुद्धि करें, 4. गोशाला में जाकर गायों की सेवा करें, 5. पेशाबघर और पाखानों की सफाई करें, 6. सूत कातें, 7. गीता के बारवें अध्याय का पाठ करें। ये सात यज्ञ विवाह के पूर्व तो होने ही चाहिए और यथासम्भव विवाह के बाद भी नित्य होने चाहिए।

गांधी जी सर्व–धर्म–समन्वय के प्रतिपादक और वैज्ञानिक तथा सार्वभौमिक धर्म के पोषक थे। वह किसी परम्परा और रुढ़ि को सविवेक स्वीकार करने के पक्षपाती थे। उन्हें यज्ञ की रूढ़िगत धारणा में कुछ सार्थकता नहीं अनुभव हुई, अपितु यह उन्हें एक अन्धविश्वास–सा ही प्रतीत हुआ। अतः उन्होंने यज्ञ को स्वीकार किया, किन्तु यज्ञ के इस प्रचलित स्थूल अर्थ को स्वीकार नहीं किया। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने यज्ञ को कर्म का प्रतीक माना, और निष्काम कर्म में ही यज्ञ को साकार होते हुए देखा। उनकी यज्ञ की वह अवधारणा सार्वभौमिक है। उनके यज्ञ में हिन्दुओं से साथ–साथ किसी भी धर्म के अनुयायी सम्मिलित हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें अन्धानुकरण को स्थान नहीं है। ऊपर सप्तपदी के स्थान पर जो सात यज्ञ बताए गये हैं, उनमें से प्रत्येक यज्ञ सार्थक, स्पष्ट और सामाजिक जीवन से सम्बन्धित है।

रूढ़िवादी यज्ञ की अवधारणा में सैकड़ों मन अन्नादि दीन–दुखियों के मुखों से छीनकर अग्नि में इसलिए झोंका जाता है, जिससे यज्ञकर्ता को स्वर्ग में फल प्राप्त हो या लौकिक जीवन में धन–जन का लाभ हो। स्पष्ट है कि इस प्रकार की याज्ञिक क्रिया समाज से पृथक होकर निरर्थक हो जाती है। इसीलिए उन्होंने यज्ञ की रूढ़िगत धारणा को अस्वीकार किया और मानवतावादी सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की। यह व्याख्या केवल उनके मन की उपज नहीं है, अतः, यह प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति के ग्रहण करने योग्य भी है।

11. ईश्वर का साक्षात्कार या अन्तर्नाद

गांधी जी से प्रायः लोग प्रश्न किया करते थे कि क्या आपको ईश्वर के दर्शन हुए हैं ? क्या आपको ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव होता है ? इनमें पहला प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से गलत है; क्योंकि गांधी जी ईश्वर को निराकार मानते हैं–वह शरीरधारी मनुष्य नहीं है। वह तो रहस्यमयी शक्ति है, जो सर्वत्र परिव्याप्त है। ऐसी शक्ति के प्रत्यक्ष दर्शन तो नहीं किये जा सकते हैं, उसको अनुभव अवश्य किया जा सकता है। इसलिए गांधी जी ने उत्तर दिया है कि ईश्वर को देखा नहीं है; किन्तु उसके अस्तित्व का अनुभव वह प्रतिपल करते रहे हैं। उसकी आवाज को वह सुनते रहे हैं। उन्हें अनेक क्षणों में ऐसा प्रतीत हुआ है कि अत्यन्त निकट से उनसे कोई कुछ कह रहा है। इस आवाज को वह अन्तर्नाद कहते हैं। यह अन्तर्नाद या आवाज मनुष्य की आवाज की तरह की नहीं होती है, अपितु यह उनकी स्वयं की अन्तरात्मा की आवाज होती है। इस अन्तरात्मा की आवाज को ही वह ईश्वर की आवाज स्वीकार करते हैं। वह कहते हैं कि जब उनका चित्त बहुत व्याकुल हुआ, तो उन्होंने ईश्वर का ध्यान किया कि उन्हें अब क्या करना चाहिए ! उन्हें अपनी अन्तरात्मा का उत्तर मिला और उनके मन को शान्ति प्राप्त हुई। जिस उत्तर से उनको शान्ति प्राप्त हुई, उसी को वह अन्तर्नाद या ईश्वर की आवाज मानते हैं।

सम्भव है, कुछ लोग इसे उत्तप्त मन की कल्पना–तरंग कहें और विश्वास न करें। गांधी जी ऐसे शंकालु लोगों की कोई उत्तर नहीं देते हैं। उन्हें शंका करने के लिए छोड़ देते हैं।

गांधी जी का मत है कि यह अन्तर्नाद या ईश्वर की आवाज प्रत्येक व्यक्ति सुन सकता है, लेकिन इसके लिए हृदय या मन को निर्विकार बनाना होगा। जो अपने हृदय को जितना अधिक स्वच्छ और निर्मल बनाएगा, वह उतना ही अधिक स्पष्ट अन्तर्नाद सुन सकता है।

कुछ लोग ईश्वर और अन्तरात्मा में विश्वास नहीं करते हैं। ऐसे लोगों के लिए गांधी जी कहते हैं कि उन्हें स्वच्छ हृदय से किसी विषय पर विचार करना चाहिए। जो कुछ उन्हें उचित प्रतीत हो, उसे वह बुद्धि का आदेश मानकर स्वीकार करें। पाठकों के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि संसार के सारे बुरे काम बुद्धि के आदेश से ही होते हैं, तो क्या ये भी ईश्वर की आवाज से होते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस प्रकार के काम शुद्ध या विकार–रहित हृदय और मस्तिष्क से नहीं होते हैं, इसलिए इन्हें ईश्वर की आवाज नहीं कहा जा सकता है। गांधी जी का ईश्वर तो सत्य है। सत्य का आदेश स्वच्छ और तटस्थ हृदय से ही प्राप्त हो सकता है। यदि कोई वैज्ञानिक किसी पूर्वाग्रह या स्वार्थ से बंधा हुआ है, तो उससे किसी उचित या वास्तविक निर्णय प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वार्थों और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त व्यक्ति अपनी बुद्धि से सच्चे या उचित आदेश की आशा कैसे कर सकता है ?

गांधी जी ने अनवरत साधना से अपने मन को पूर्ण शुद्ध किया था। उन्होंने समदृष्टि का विकास कर लिया था। उनके हृदय में किसी प्रकार का ईर्ष्या–द्वेष या भेद–भाव नहीं था। इसीलिए वह राष्ट्र और समाज की गम्भीर से गम्भीर समस्याओं के समाधान के लिए अपनी अन्तरात्मा के निर्णय को अन्तिम आदेश मानते थे, भले ही उसमें हानि होने की सम्भावना हो। वह इस बात की चिन्ता नहीं करते थे, कि उनका कोई साथ देगा या नहीं। उन्होंने अपनी

अन्तरात्मा के आदेश से जब–जब अनशन किए, उनके मित्रों ने उनका सदा विरोध किया, किन्तु वह अपने निश्चय से विचलित नहीं हुए, और अन्त में उन्हें सफलता मिली।

12. रामनाम

शब्दों में असीम शक्ति सन्निहित होती है। संसार का सम्पूर्ण कार्य शब्दों के माध्यम से ही संचालित होता है। शब्दों के सदुपयोग से समाज में शान्ति–व्यवस्था स्थापित हो सकती है, और शब्दों के दुरुपयोग से बड़े–बड़े नर–संहार हो सकते हैं। अच्छे शब्दों और विचारों से मन में शान्ति और सुख का साम्राज्य स्थापित होता है और बुरे शब्दों के प्रयोग और चिन्तन से मन अशान्त और उद्विग्न होता है। प्रत्येक धर्म ने शब्दों के इस मनोवैज्ञानिक प्रभाव को स्वीकार किया है। इसीलिए धर्म में ईश्वर के नाम के चिन्तन और उच्चारण का विधान किया गया है। ईश्वर का नाम सत्य और सद्प्रवृत्तियों का प्रतीक होता है। अतः उसका जितना अधिक स्मरण किया जाएगा, उतना अधिक उसका मन और बुद्धि पर प्रभाव पड़ेगा।

गांधी जी धार्मिक क्षेत्र में नाम जप को इसी मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में स्वीकार करते हैं। उनको बचपन में भूत–प्रेतों का भय लगता था। एक बार उनकी धाय रम्भा ने यह सिखाया कि रामनाम जपने से भूतों का भय पास नहीं आएगा। उन्होंने रामनाम जपना प्रारम्भ किया, और उनके मन से भय दूर हो गया। प्रारम्भ में उन्होंने भूतों के कारण रामनाम को ग्रहण किया, किन्तु बाद में इस राम शब्द ने उनके मन से संसार के सारे भय दूर कर दिए। उनकी आत्म–शक्ति बहुत प्रबल हो गई। उन्होंने लिखा है कि सच्चे हृदय से रामनाम स्मरण करने से उन्हें अमोघ शक्ति प्राप्त हुई। उन्होंने प्रत्येक संकट का सामना इसी 'राम' शब्द की शक्ति के द्वारा ही किया।

गांधी जी के राम राजा दशरथ के पुत्र और अयोध्या के राजा नहीं हैं। 'राम' शब्द तो महान् सद्गुणों का प्रतीक है, उच्चतम आदर्श है। व्यक्तियों के रूप में राम और रावण की कथा

तो एक रूपक है जिसके द्वारा सर्वसाधारण को दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का बोध कराया गया है। ईश्वर दैवी प्रवृत्तियों से युक्त है। 'राम' भी दैवी प्रवृत्तियों से युक्त बताए गये हैं। इसलिये ईश्वर के लिये 'राम' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। चूंकि ईश्वर नित्य, अजन्मा और अद्वितीय है, इसलिये गांधी का राम भी ऐसा ही है। गांधी जी राम के स्थान पर किसी अन्य शब्द का भी प्रयोग कर सकते थे; किन्तु बचपन के धार्मिक संस्कारों के कारण रामनाम में उनकी अटूट श्रद्धा केन्द्रित हो चुकी थी, इसलिए उन्होंने किसी दूसरे शब्द की आवश्यकता अनुभव नहीं की।

गांधी जी का विश्वास है कि सम्पूर्ण संसार का ईश्वर एक है। कोई धर्म किसी भी रूप में अपने ईश्वर की कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र है; किन्तु वास्तविकता यह है कि सब धर्म एक ही ईश्वर को मानते हैं, भले ही अपनी–अपनी सुविधानुसार लोग ईश्वर को भिन्न–भिन्न नामों से सम्बोधित करें। वस्तुतः राम, अल्लाह, गाड आदि में कोई अन्तर नहीं है। यदि कोई मुसलमान, ईसाई या पारसी राम नाम जपता है, तो उससे कोई हानि नहीं है, और यदि हिन्दू अल्लाह या गाड का नाम पूर्ण श्रद्धा से जपते हैं तो उनको वही फल प्राप्त होगा, जो रामनाम जपने से प्राप्त होता है। राम या शब्द तो प्रतीक या माध्यम है; वास्तविक वस्तु तो श्रद्धा है। जो शब्द जिस व्यक्ति के हृदय को शुद्ध करे, सद्प्रवृत्तियां जाग्रत करे, महान् आदर्शों की ओर उन्मुख करे, पवित्र विचारों से मस्तिष्क को ओत–प्रोत करे, वही शब्द वह प्रयोग कर सकता है। हिन्दू तथा तुलसीदास की रामायण के भक्त होने के कारण गांधी जी के लिए 'राम' शब्द ही अधिक प्रभावकारी था, इसलिए वह राम नाम जपते थे। इसके पीछे उनमें धार्मिक संकीर्णता या साम्प्रदायिक दुराग्रह नहीं था।

13. निष्कर्ष

युग की परिस्थितियों के साथ धार्मिक भाषा और साहित्य की अवधारणाओं में भी परिवर्तन होता है। यह कार्य ऐसे मनीषियों द्वारा होता है, जो अपनी संवेदनशीलता से समाज की युग–चेतना आत्मसात कर चुके होते हैं। 20वीं शताब्दी में, गांधी जी ऐसे ही युग–पुरुष के रूप में अवतरित हुए। उन्हें जनता को धार्मिक संकीर्णता और साम्प्रदायिकता से मुक्त कराने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके लिए यह आवश्यक था कि धर्म को वैज्ञानिक बनाया जाए; क्योंकि यह विज्ञान–युग है। यदि धर्म में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का समावेश हो जाए, तो धर्म की संकीर्णता स्वयं समाप्त हो जाए। गांधी जी ने यह कार्य पूर्ण कुशलता से सम्पन्न किया। उन्होंने धार्मिक क्षेत्र की आधारभूत अवधारणाओं का युग की परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के अनुरूप अर्थ–विस्तार किया, उनका अधिक विज्ञान–सम्मत विकास किया। विज्ञान सत्य का शोधक है तथा इसकी प्रकृति सार्वभौमिक और सार्वदेशिक होती है। धर्म अधिकांशतः रूढ़ियों और अंधविश्वासों का पोषक तथा सीमाओं का समर्थक माना जाता है। गांधी जी ने 'सत्य ही ईश्वर है' तथा 'सत्य–शोध ही धर्म है' का मत स्थिर करके अन्धविश्वासों का निराकरण तो किया ही, साथ ही विज्ञान को धर्म का सहयोगी बना दिया। गांधी जी की समस्त धार्मिक अवधारणाएं इसी सत्य की कसौटी पर आधारित हैं।

आज विज्ञान ने आवागमन और संचार के साधनों का विकास करके सम्पूर्ण संसार को परिवार में परिवर्तित कर दिया है। इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात उठायी जा रही है। इतिहास बताता है कि रूढ़िवादी धर्म एकता और सहयोग में बहुत बड़ा बाधक रहा है। गांधी जी ने इस समस्या का समाधान करने के लिए धार्मिक अवधारणाओं के सार्वभौमिक अर्थ–विस्तार किए। ये व्याख्याएँ ऐसी हैं, जिनसे किसी, देश या धर्म के लोगों का संघर्ष या विरोध नहीं होगा, तथा जिन्हें स्वीकार करने में किसी धर्म को कोई आपत्ति नहीं होगी। जो धर्म इन अवधारणाओं को स्वीकार करता है, उसका अस्तित्व भी बना रहता है, और

दूसरे धर्मों से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध भी बना रहता है। वस्तुतः गांधी जी की धार्मिक अवधारणाओं ने धार्मिक क्षेत्र में सहअस्तित्व की एक नवीन प्रणाली को जन्म दिया है, विश्व–धर्म की कल्पना को साकार करने के लिए एक व्यावहारिक योजना ही नहीं रखी, अपितु उसे कार्यरूप में परिणत भी किया।

4

धर्म और नैतिकता

1. प्रारम्भिक

सामाजिक विचारों के इतिहास से ज्ञात होता है कि धर्म और नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध का विवाद बहुत पुराना है। इस विषय पर अनेक धर्माचार्यों, दर्शनशास्त्रियों, नीतिशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों ने भिन्न–भिन्न मत प्रस्तुत किए हैं। कुछ लोगों का मत है कि नैतिकता या नीति कुछ नहीं है। इसका सार्वभौमिक स्वरूप सम्भव ही नहीं है। कुछ लोगों का दृढ़ मत है कि नीति पर संसार टिका है–यदि नीति न होती, तो संसार इस रूप में विकसित ही न हुआ होता। कुछ लोगों का विचार है कि विश्व का विकास धर्म द्वारा हुआ है और धर्म के कारण ही उसका अस्तित्व बना हुआ है। नैतिकता धर्म से ही उत्पन्न हुई है। दूसरे लोग यह मत स्थिर करते हैं कि धर्म कुछ नहीं है, यह नैतिकता का ही एक रूप है; नैतिकता न होती तो धर्म का उद्भव न हुआ होता। इन दोनों मतों के बीच मार्ग निकालते हुए कुछ अन्य लोग यह भी मानते हैं कि नैतिकता और धर्म पृथक्–पृथक् नहीं है; अपितु दोनों अन्योन्याश्रित हैं; एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व सम्भव नहीं है। संक्षेप में, चार विचारधाराएँ हैं–1. धर्म या नैतिकता कुछ नहीं है; 2. नैतिकता धर्म के पहले है; 3. धर्म नैतिकता के पहले है, तथा 4. नैतिकता और धर्म अन्योन्याश्रित है।

पहला मत नितान्त अयथार्थवादी और निरर्थक है; क्योंकि विश्व में किसी ऐसे समूह या समाज का उदाहरण नहीं मिलता है, जिसमें नैतिकता न हो। डाकुओं–चोरों के समूह भी बिना नैतिकता के पालन सम्भव नहीं होते हैं, भले ही उनकी नैतिकता अपूर्ण हो। अतः इस प्रकार की बात उठाना बुद्धि का दिवालियापन है। दूसरी विचारधारा (अर्थात् नैतिकता धर्म के पहले है) के समर्थक अनेक विद्वान हैं। काण्ट, मैथ्यू आर्नाल्ड, मार्टिन्यू आदि दार्शनिक तथा फर्डीनैण्ड

टानीज, इमाइल डुरखीम आदि समाजशास्त्री इसी कोटि में आते हैं। काण्ट का कहना है कि ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता के कारण है। मैथ्यू आर्नाल्ड के अनुसार ''भावनायुक्त नैतिकता ही धर्म है''। टानीज और डुरखीम ने यह प्रतिपादित किया कि धर्म नैतिक नियमों को स्वीकृति देने के लिए उत्पन्न हुआ, अर्थात् धार्मिक आधार से नैतिक नियमों में दृढ़ता आती है, समाज इनके पालन के लिए अधिक सचेष्ट होता है। प्रो0 वेस्टरमार्क ने आदिवासियों के नैतिक नियमों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि आदिवासियों के नैतिक विचार धर्म की अपेक्षा जादू से अधिक प्रभावित हैं। इस विचारधारा के विपरीत नैतिकता की तुलना में धर्म को प्रधानता देने वालों में डेकार्ट, लाक, पैले, टालस्टाटाय, समाजशास्त्र के जनक आगस्ट काम्ट आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ये नैतिकता की उत्पत्ति धर्म से मानते हैं। टाल्सटाय ने लिखा है, ''धर्म वह सम्बन्ध है, जो मनुष्य अपने पृथक् व्यक्तित्व और इस असीम विश्व अथवा उसके मूल कारण परमात्मा के बीच स्थापित करता है और नैतिकता जीवन की वह सदा प्रस्तुत पथ–प्रदर्शिका है, जो इस सम्बन्ध से पैदा होती है।'' उनका दृढ़ मत है कि धार्मिक आधार के बिना वास्तविक, सच्ची नैतिकता का अस्तित्व सम्भव नहीं है। आगस्ट काम्ट का मत है कि मनुष्य के चिन्तन का प्रारम्भिक रूप धार्मिक होता है। इस धार्मिक चिन्तन से नैतिक विचारों का जन्म होता है– धर्म नैतिकता का सांचा है जिसमें ढलकर नैतिक मान्यताएं समाज में प्रचलित होती हैं। वेञजामिन किड तथा सी. एस. लेविस का भी यही विचार है कि नैतिकता धर्म का सहारा लिए बिना प्रभावकारी हो ही नहीं सकती है। किन्तु हरबर्ट स्पेंसर, थामस हक्सले, ब्रेडला आदि ने बिल्कुल इसके विपरीत यह कहा कि नैतिकता समाज की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल उस समय तक नहीं हो सकती है, जब तक इसको धर्म से मुक्त नहीं किया जाता है।

गांधी जी का मत है कि वस्तुतः उक्त दोनों प्रकार की विचारधाराएं आत्यन्तिक और एकांगी हैं। यथार्थ स्थिति ऐसी नहीं है। वास्तव में धर्म और नैतिकता अत्यन्त घनिष्ठ रूप में एक–दूसरे से सम्बन्धित हैं, दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। कब धर्म नैतिकता हो जाता है,

और कब नैतिकता धर्म का रूप धारण कर लेती है, इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। जब लोग धर्म से चिढ़ कर नैतिकता का नारा लगाते हैं, तो उनकी दृष्टिमें धर्म का शुद्ध रूप नहीं होता है, अन्यथा शुद्ध धर्म से नैतिकता का पृथक्करण सम्भव नहीं है। इसी प्रकार जब धर्म को नैतिकता से वरेण्य घोषित किया जाता है, तो नैतिकता का वास्तविक रूप सामने नहीं होता है। अतः नैतिकता और धर्म को अन्योन्याश्रित मानना ही अधिक सुरक्षित और उपयुक्त है। अनेक विचारक इसी मध्यम मार्ग को मानते हैं। विलियम लिली का विश्वास है, ''व्यक्ति अथवा समाज जितना ही धार्मिक होगा, उतना ही वह अधिक नैतिक होगा।'' डब्लू0 एम0 अर्बन ने इसी तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है : ''जब हम नैतिक आचार तथा नैतिक निर्णयों में जो कुछ निहित है, उस पर विचार करते हैं, हम जगत् अथवा विश्व के ऐसे विचार की ओर ले जाए जाते हैं जो कि कम—से—कम सिद्धान्त के रूप में वही है जैसा कि एक विचारशील धर्म मानता है। दूसरे शब्दों में, हम उनकी यथार्थता की उस मान्यता पर पहुँचते हैं, जिसको धर्मवादी ईश्वर कहता है।'' समाजशास्त्री आर0 एम0 मेकाइवर ने भी कहा है कि धर्म और नैतिकता परस्पर अत्यधिक मिले—जुले हैं— धर्म में नैतिकता के तत्त्वों का समावेश है और नैतिकता पर धर्म का प्रभाव है। जे0 मिल्टन इञजर ने लिखा है कि धर्म और नैतिकता एक दूसरे को प्रभावित किए बिना समाज में नहीं रह सकते हैं। डा0 राधाकमल मुकर्जी ने यह विचार व्यक्त किया कि धर्म और नैतिकता के सम्मिलन से यथार्थ और आदर्श में सन्तुलन स्थापित होता है।

गांधी जी के विचारों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि वह इसी मध्यम मार्ग के समर्थक हैं। उनके मत से धर्म और नैतिकता को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है, दोनों एक—दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं।

2. नैतिकता क्या है ?

गांधी जी के मत से नीति और धर्म में क्या सम्बन्ध है–यह विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि गांधी जी की नैतिकता की अवधारणा क्या है ?

गांधी जी की नीति की अवधारणा गीता और किसी सीमा तक काण्ट की अवधारणा के अनुरूप है तथा नीत्शे की नैतिकता के विपरीत है। गांधी जी के अनुसार मनुष्य का आदर्श या साध्य ईश्वर है, जो ''सर्वशक्तिमान् है, सम्पूर्ण है, उसके बड़प्पन, दया, न्याय की सीमा नहीं है।'' मनुष्य का लक्ष्य है–इस ईश्वर के निकट से निकट पहुँचना, इस आदर्श की ओर अधिक से अधिक बढ़ना, तथा अपने को सम्पूर्ण बनाने का अधिकतम प्रयत्न करना। नीति के नियमों के पालन करने से व्यक्ति इस परम शुभ को प्राप्त कर सकता है।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि नैतिक या नीतियुक्त क्या है ? इस सम्बन्ध में गांधी जी परार्थ की एक कसौटी देते हैं, जिससे नीति–अनीति की परीक्षा की जा सकती है। जो कार्य स्वार्थ की दृष्टि से किया जाता है, वह अनीति है, और जो परार्थ अर्थात् दूसरों की भलाई की दृष्टि से किया जाता है, वह नीति है। वह कहते हैं, ''हम नीति के समस्त नियमों को दोहन करें, तो देखेंगे कि मानव–जाति का भला करने का प्रयास ही ऊँची नीति है।''

गांधी जी इस तथ्य से पूर्ण परिचित हैं कि समाज में परार्थ के नाम पर आडम्बर बहुत चलता है। प्रायः लोग स्वार्थ को परार्थ के आवरण में प्रस्तुत किया करते हैं। इसीलिए वह कहते हैं कि नीति में इच्छा या हेतु का बहुत महत्त्व है। जो काम परार्थ या भलाई की दृढ़ इच्छा से किया जाता है, वह नीतियुक्त है। वह उदाहरण देते हैं कि यदि एक व्यक्ति दया से द्रवित होकर गरीबों को भोजन देता है, और दूसरा व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए गरीबों को भोजन देता है, तो पहले का काम नीतियुक्त है, और दूसरे का काम नीतिरहित है। यहाँ पहले के काम में परार्थ की इच्छा है, और दूसरे के काम में स्वार्थ की इच्छा है। गांधी जी

सिकन्दर के यूनानी शिक्षा, कला आदि के प्रचार–प्रसार के कार्यों को नीतियुक्त नहीं मानते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में सिकन्दर ने ये कार्य दुनियां की भलाई के लिए नहीं किये थे, अपितु उसका उद्देश्य बड़प्पन प्राप्त करना था; अतः उसके कार्य नीतियुक्त नहीं हैं। इस सम्बन्ध में गांधी जी के विचार डा0 जान्सन, मार्टिन्यू, बटलर, काण्ट आदि से मिलते–जुलते हैं। डा0 जान्सन कहता है, ''किसी कार्य की नैतिकता उस हेतु पर निर्भर करती है, जिससे हम कार्य करते हैं। यदि मैं किसी भिखारी की ओर उसका सर फोड़ने के उद्देश्य से एक अर्द्धक्राउन फेंकता हूँ, और वह उसे उठा लेता है तथा उससे खाने की सामग्री खरीद लेता है, तब भौतिक परिणाम तो शुभ है; किन्तु मेरे सम्बन्ध में यह काम बहुत अनैतिक है।'' बटलर के अनुसार, ''किसी कार्य की अच्छाई–बुराई उस हेतु पर निर्भर है, जिससे वह किया जाता है।'' मार्टिन्यू का भी यही मत है, ''यदि किसी कार्य के प्रेरक भाव निम्नकोटि के हैं, तो हमें उस कार्य को बुरा मानना चाहिए, और यदि वे उच्चकोटि के हैं, तो हमें उसे भला मानना चाहिए।''

गांधी जी ने इस सम्बन्ध में और अधिक स्पष्ट किया है। वह कहते हैं, ''प्रत्येक नीतियुक्त कार्य नेक इरादे से किया हुआ हो, इतना ही काफी नहीं है; बल्कि यह बिना दबाव के किया हुआ होना चाहिए। नीतियुक्त काम में डर या जबरदस्ती न होनी चाहिए; वैसे ही स्वार्थ भी न होना चाहिए।'' अधिकांश लोग परोपकारी कार्य परलोक में सुख प्राप्त करने की इच्छा से करते हैं अथवा नरक की यातनाओं से बचने और स्वर्ग में सुख प्राप्त करने की दृष्टि से करते हैं। ऐसे लोग प्रायः अपने कार्यों को निःस्वार्थ भाव से प्रेरित मानते हैं। किन्तु, वास्तव में उनके कर्म निष्काम नहीं होते हैं गांधी जी की दृष्टि में ऐसे कर्म नीतियुक्त नही हैं। ''जैसे इस लोक में लाभ के उद्देश्य से किया हुआ काम नीतियुक्त नहीं माना जा सकता है, वैसे ही परलोक में लाभ मिलेगा, इस आशा से किया हुआ काम भी नीतिरहित है। भलाई भलाई के लिए करनी है, यों समझ कर किया हुआ काम नीतिमय माना जाएगा।'' गांधी जी यहाँ पर

काण्ट के 'कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य' नियम का समर्थन करते हैं। काण्ट भी कहता है कि नैतिक नियमों के आदेश निरपेक्ष हैं, जिनका पालन बिना किसी उद्देश्य या शर्त के होना चाहिए।

गांधी जी गीता की निष्काम कर्म की भावना में विश्वास करते हैं। वह नीतियुक्त कर्म में फल को स्थान नहीं देते हैं। वह कहते हैं, ''फल पर हमारा बस नहीं, फल देने वाला तो एकमात्र ईश्वर है।'' काण्ट भी यही कहता है, ''यदि शुभेच्छा भगीरथ प्रयत्न के बाद भी कुछ प्राप्त नहीं करती, और वह केवल शुभेच्छा ही रह जाती है, तो आभूषण की तरह वह स्वयं अपने प्रकाश से स्वयं चमकती है, उस वस्तु की तरह जिसका सब मूल्य उसी में है।'' गांधी जी नीति के नियम को सार्वभौमिक, सार्वकालिक, सर्वजनीन मानते हैं। वे अपरिवर्तनीय और अटल हैं। ''मत बदला करते हैं, नीति नहीं बदलती है।'' नीति के नियम ईश्वरीय हैं। ईश्वर सत्य है। सत्य अपरिवर्तनीय होता है, इसलिए नीति भी अपरिवर्तनीय है। डेकार्ट, लो, पैले भी नैतिक नियमों को ईश्वर–इच्छा से निर्मित मानते हैं।

गांधी जी समाज में प्रचलित नियमों और रूढ़ियों को आंख बन्द करके उचित या नैतिक मानने के पक्ष में नहीं हैं। मनुष्यों को बुद्धि से काम लेने को कहते हैं। उनके अनुसार आवश्यकता पड़ने पर रूढ़ियों के विरुद्ध भी नीतियुक्त काम किया जा सकता है; किन्तु उस समय जब व्यक्ति को यह विश्वास और अनुभव होने लगे कि उसके कार्यों का साक्षी ईश्वर है। वह ईश्वर को व्यक्ति की आत्मा में प्रतिष्ठित मानते हैं। यदि व्यक्ति चाहे, तो अपने हृदय को शुद्ध और निष्काम बनाकर शुभाशुभ, नैतिक–अनैतिक का स्वयं निर्णय कर सकता है।

गांधी जी स्वयं अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित ईश्वर को ही साक्षी मान कर बड़े–बड़े निर्णय करते थे, और ऐसे अवसरों पर रूढ़ियों या विरोध को महत्त्व नहीं देते थे,। उन्होंने जब हरिजन–समस्या को उठाया, तो उन्हें बहुत प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा; किन्तु वह कभी नहीं झुके। वह आजीवन हरिजनों को समाज में ऊँचा उठाने के लिए प्रयत्नशील रहे। इसी प्रकार समाज में प्रचलित अन्य अनेक अनीतियों का प्राणों की बाजी लगाकर विरोध किया

और अन्त में नीति–प्रेम के कारण ही सुकरात और ईसा की तरह उन्हें अनीति के हाथों बलिदान होना पड़ा। वस्तुतः गांधी जी ने अपने जीवन द्वारा यह सिद्ध भी कर दिया कि नैतिकता केवल उच्च सिद्धान्त ही नहीं है, अपितु इसे आचरण में उतारा भी जा सकता है। इस प्रकार जिस नीतिशास्त्र को दर्शनशास्त्रियों ने 'चाहिए' की कोटि में रख छोड़ा था, उसे गांधी जी ने 'है' की कोटि में पहुँचा दिया।

3. नीतिधर्म और धर्मनीति

मारिस जिन्सवर्ग ने 'सोशियालाजी' नामक पुस्तक में धर्म और नैतिकता के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना करते हुए यह विचार प्रस्तुत किया है कि अविकसित धर्मों में नैतिकता धर्म पर आश्रित न होकर जादू–टोने पर आश्रित होती है; किन्तु विकसित या उच्च अवस्था में ईश्वर या देवता नैतिकता पर अधिक आश्रित हो जाते हैं। ईश्वर का स्वरूप नैतिक नियमों द्वारा ही निश्चित होता है, और आगे चलकर नैतिकता धर्म से स्वतन्त्र होकर स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करने लगती है। गांधी जी प्रथम और अन्तिम दोनों अवस्थाओं को उचित नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में सच्ची नीति को धर्म पर आश्रित होना चाहिए। ''दुनिया के धर्मों को बारीकी से देखा जाए, तो पता चलेगा कि नीति के बिना धर्म नहीं टिक सकता है। सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश में हो जाता है। इसी विचार के कारण ही वह धर्म का सच्चा स्वरूप व्यक्त करने के लिए 'नीतिधर्म' शब्द का प्रयोग करते और नीति का वास्तविक रूप व्यक्त करने के लिए 'धर्मनीति' शब्द का व्यवहार करते हैं।

गांधी जी ने अपने युग के प्रमुख धर्मों और समाजों का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करके यह निष्कर्ष निकाला था कि संसार में धर्म का रूप अधिक विकृत कर दिया गया है। अधिकांश लोग धर्म के रूप में पाखण्ड करते हैं। इन पाखण्डों को देख कर अनेक लोग धर्म को दोषी ठहराते हैं, धर्म को त्याज्य मानते हैं। गांधी जी इस स्थिति को मानवता के लिए विनाशकारी

मानते हैं। उनकी दृष्टि में यह स्थिति इसलिए उत्पन्न हुई है कि धर्म ने नीति के आधार को छोड़ दिया है। इसी प्रकार उनका मत है कि संसार में अनेक लोग अपने को नीतिवान या नीति का अनुयायी कह कर अनेक अत्याचार करते हैं। बिस्मार्क ने अपने को नीतिवान घोषित करते हुए अनेक भयानक कर्म किए। यह स्थिति इसलिए उत्पन्न हुई कि नीति में धर्म का समावेश नहीं रहा, नीति स्वच्छन्द हो गई; किन्तु यह सच्ची नीति नहीं है। गांधी जी ने इस सन्दर्भ में डार्विन के सिद्धान्त पर भी विचार किया है। आजकल संसार में अधिकांश लोग यह विश्वास करते हैं कि डार्विन शरीर–बल को सर्वोपरि महत्त्व देता है–जो शक्तिशाली है, वही जीवन–संघर्ष में विजयी होता है। गांधी जी का मत है कि डार्विन के सिद्धान्त का यह गलत अर्थ है उनकी दृष्टि में डार्विन शरीर–बल को सर्वोपरि नहीं मानता है, अपितु नीति बल को सर्वोच्च स्थान देता है।

यद्यपि गांधी जी धर्म और नीति को समान स्तर प्रदान करते प्रतीत होते हैं; किन्तु उनका झुकाव नीति की ओर अधिक है। वह कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति धर्म का पालन न करते हुए भी नीति का पालन करता है, तो वह समाज के लिए हितकर है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति नीति को न मानते हुए धर्म को मानता है तो वह समाज के लिए बहुत विनाशकारी है। संसार के धार्मिक संघर्ष, साम्प्रदायिक उत्पात, धर्म के नाम पर होने वाले पाप नीति–रहित धर्म के पालन के कारण ही होते हैं। ऐसा धर्म वस्तुतः धर्म नहीं है। ''ज्यों ही हम नैतिक आधार को खो देते हैं, त्यों ही हम धार्मिक नहीं रह जाते। नैतिकता का उल्लंघन करने वाले धर्म के जैसी कोई चीज नहीं है।'' वह ऐसे धर्म को स्वीकार करने के पक्ष में हैं, जो बुद्धि को जंचे और नैतिक भी हो।

गांधी जी की दृष्टि में शुद्ध धर्म नैतिक होता है और नैतिक नियम सार्वभौमिक होते हैं। वे संसार के किसी भी वर्ग, समूह या समाज पर लागू हो सकते हैं। संसार के समस्त धर्म नैतिक नियमों पर ही आधारित किए गये हैं; किन्तु बाद में लोगों ने अपने विचारों की

संकीर्णता, अज्ञान और स्वार्थ के कारण इन नैतिक नियमों की उपेक्षा करके धर्मों को विकृत कर दिया है। यदि समाज में सुख, शान्ति और व्यवस्था स्थापित करनी है, तो सभी धर्मों में निहित नैतिक नियमों की खोज होनी चाहिए और उन्हीं के पालन के लिए सबसे अधिक बल दिया जाना चाहिए। चूंकि सभी धर्मों के नैतिक नियम समान हैं, उनमें कोई विरोध या अन्तर नहीं है; इसलिए लोगों में धार्मिक निष्ठा में वृद्धि होगी तथा धार्मिक विद्वेष और अन्तर का अन्त होगा और सार्वभौमिक धर्म का विकास होगा तथा मानवता का कल्याण होगा।

विश्वविख्यात समाजशास्त्री डा0 पिटरिम सोरोकिन ने अपनी पुस्तक 'मानवता की नवरचना' (The Reconstruction of Humanity) में नैतिक मूल्यों पर बल देते हुए मानवता को सर्वनाश से बचाने के लिए एक व्यावहारिक योजना प्रस्तुत की है। इसमें उन्होंने लिखा है, ''सभी धर्मों ने जो नैतिक आदेश दिए हैं, वे मौलिक रूप से एक समान हैं। उनके नीतिशास्त्र में ईश्वर के प्रति, मनुष्यमात्र के प्रति और सारी सृष्टि के प्रति असीम प्रेम रखने की बात कही गयी है। संक्षेप में कह सकते हैं कि सभी धर्मों में शाश्वत मूल्य और आचरण संहिता में एक–सी ही प्रेरणा मिलती है।'' वह आगे लिखते हैं कि मानवता के हित में ''भविष्य का कोई भी सच्चा मूल्य वही हो सकता है, जो इस अर्थ में सार्वदेशिक हो कि प्रत्येक व्यक्ति पवित्र लक्ष्य–मूल्य है, फिर वह किसी भी जाति, राष्ट्र, मत, आयु, लिंग अथवा स्तर का क्यों न हो।'' इसका आशय यह है कि सोरोकिन सार्वभौमिक धर्म और नैतिकता में मानवता का कल्याण मानते हैं। प्रख्यात मनोवैज्ञानिक विलियम मैक्डूगल ने अपनी पुस्तक 'नैतिकता तथा आधुनिक विश्व की कुछ समस्याएं'' (Ethics and some modern world problems) में नैतिकता के प्रश्न पर विचार किया है। वह कहता है कि आधुनिक सभ्यता ने दो प्रकार की नैतिकताओं को जन्म दिया है– 1. राष्ट्रीय नैतिकता और 2. सार्वभौमिक नैतिकता। राष्ट्रीय नैतिकता अपने नैतिक मूल्यों को अपने राष्ट्र तक सीमित रखती है; फलतः उसका अन्य राष्ट्रों से संघर्ष होता है, युद्ध होते हैं, विनाश होता है। कुछ धर्म और राष्ट्र सार्वभौमिकता की बात करते हैं; किन्तु वे

राष्ट्रों या व्यक्तियों के अस्तित्व की उपेक्षा करते हैं। वे अपने धर्म या विचार को श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिए चाहते हैं कि संसार भर में उसी का प्रसार हो। इनकी सार्वभौमिकता में दुराग्रह आ जाता है। वह ईसाई धर्म का उदाहरण देते हुए कहता है कि ईसाई धर्म ने विश्वबन्धुता का पाठ सिखाया और ईसाई धर्म को सम्पूर्ण विश्व में फैलाने का प्रयास किया; किन्तु वे सार्वभौमिक धर्म या नैतिकता का विकास नहीं कर सके। योरोप के अतिरिक्त अन्य देशों में अनेक लोग ईसाई बनाए गये; किन्तु उन्हें समान स्तर नहीं मिला। इंग्लैण्ड का अंग्रेज अन्य देशों के ईसाइयों से अपने को ऊँचा समझता रहा। इतना ही नहीं, ईसाई धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय बने और उपासना पद्धतियों के अन्तर के कारण धर्म के नाम पर अनेक रक्त–रंजित संघर्ष हुए। अतः ऐसी सार्वभौमिकता की नीति पूर्ण असफल रही। वह कहता है कि इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय नैतिकता और अन्तर्राष्ट्रीय या सार्वभौमिक नैतिकता का समन्वय किया जाए। दोनों के आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाए; किन्तु दोनों की आत्यन्तिक कठोरताओं का अन्त किया जाए, जब तक ऐसा नहीं होगा, तब तक मानवता और सभ्यता का विकास नहीं हो सकता है, और विश्व में शान्ति–व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती है।

गांधी जी का नीतिधर्म का सिद्धान्त इसी समन्वय के कार्य की योजना है। इसमें विभिन्न धर्मों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, उनको समाप्त करके किसी नए धर्म को प्रतिष्ठित करने की कोई योजना नहीं है। इसमें यह कहा जाता है कि सब लोग अपने–अपने धर्मों के प्रति पूर्ण निष्ठा रखे, अपने धर्मों का पालन करें; किन्त धर्मपालन में इस बात का विशेष ध्यान रखें कि वे अपने–अपने धर्मों में निहित आधारभूत नैतिक नियमों पर अटल रहें। प्रत्येक धर्म के नैतिक नियम समान हैं। उनमें प्राणिमात्र के प्रति दया, प्रेम, सेवा की बात कही गई है। जब व्यक्ति नीति के इन नियमों का मन–वचन–कर्म से पालन करेगा और घृणा, द्वेष आदि को स्वीकार ही नहीं करेगा, तो विरोध और संघर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं उठेगा। नीति

धर्म या सच्चे धर्म को मानने वाला व्यक्ति सब धर्मों के प्रति समानता का भाव रखेगा, सब मनुष्यों को बिना भेद–भाव के प्रेम करेगा। जब मनुष्यों में इस कोटि की सहिष्णुता और नीति का विकास होगा, तब मानवता निर्माण और प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकेगी। इस प्रकार गांधी जी युग–धर्म के अनुरूप तथा सम्पूर्ण मानवता के हितार्थ धर्म और नीति के समन्वय की व्यावहारिक और सार्वभौमिक योजना प्रस्तुत करते हैं, जो व्याधिग्रस्त विश्व–समाज के लिए एक महौषधि सिद्ध हो सकती है।

5

धर्म और व्यक्तित्त्व

1. प्रारम्भिक

डेनमार्क के प्रख्यात समाज–विज्ञानवेत्ता डा0 विंडिग क्रूसे ने डेनिश भाषा में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है, जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'दि कम्युनिटी आफ दि फ्यूचर' के नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें लेखक ने विस्तारपूर्वक यह विवेचन किया है कि भावी मानवता को वर्तमान विनाशकारी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों से मुक्त करके कल्याण–मार्ग की ओर किस प्रकार उन्मुख किया जा सकता है। उसने सारांश के रूप में यह सूत्र दिया है कि यद्यपि मानवता को विनाश से बचाने के लिए समाज का पुनर्गठन करना होगा; किन्तु इसके साथ–साथ यह भी नितान्त आवश्यक है कि जिन व्यक्तियों के योग से समाज क संरचना होती है, उनका पर्याप्त परिष्कार किया जाए, एक 'नए प्रकार का मनुष्य' निर्माण किया जाए। वह कहता है कि वर्तमान मनुष्य के ऊपर पुती हुई सभ्यता की वार्निश को देखकर उसे चाहे जितना सभ्य या उन्नत समझा जाए; किन्तु वास्तविकता यह है कि वह अभी स्वार्थपूर्ण आदिम प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं हुआ है, इसीलिए समाज में शान्ति और व्यवस्था नहीं है।

यहाँ जब डा0 क्रूसे यह कहता है कि 'नए प्रकार के मनुष्य' (New type of man) का निर्माण करना होगा, तो इसका आशय यह है कि मनुष्य के व्यक्तित्त्व की अधोमुखी प्रवृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी देखना चाहता है तथा व्यक्तित्त्व में उदात्त और परार्थवादी तत्त्वों का समावेश चाहता है; न कि चार पैरों या आठ हाथों अथवा दस सिर वाला मनुष्य चाहता है।

गांधी जी भी यही अनुभव करते हैं। उनका भी यही विश्वास है कि शान्तिपूर्ण स्थायी सामाजिक व्यवस्था के लिए मनुष्य के व्यक्तित्व में आभ्यान्तरिक परिवर्तन की अपेक्षा है, और

यह परिवर्तन व्यक्ति के हृदय और आचरण में यथार्थ धर्म की प्रतिष्ठा द्वारा सम्भव है, यह व्यक्ति की इच्छाओं और क्रियाओं का आध्यात्मीकरण करने से शक्य है।

प्रस्तुत अध्याय में यही विश्लेषण किया जाएगा कि गांधी जी की धर्म की अवधारणा किस प्रकार से व्यक्तित्त्व के निर्माण में सहायक होती है ?

2. व्यक्तित्त्व की वैज्ञानिक व्याख्या

'व्यक्तित्त्व' शब्द अंग्रेजी के 'परसनैलिटी' (Personality) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। परसनैलिटी शब्द लैटिन भाषा के 'परसोना' शब्द से बना है, जिसका अर्थ वह चेहरा है जो रोम के अभिनेता अभिनय करते समय लगाया करते थे। यह तो शाब्दिक अर्थ हुआ। व्यावहारिक जीवन में परसनैलिटी का अर्थ शारीरिक लक्षण होता है। हम बोल–चाल में प्रायः कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति की परसनैलिटी अच्छी है या अमुक व्यक्ति की परसनैलिटी बुरी है। इसका आशय केवल यह होता है कि वह शारीरिक दृष्टि से देखने में अच्छा या बुरा है। वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से उक्त अर्थ अपूर्ण और सीमित है। व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या में व्यक्ति की दैहिक, मानसिक और सांस्कृतिक तीनों प्रकार की विशेषताओं का समावेश होता है। प्रख्यात मनोविज्ञानवेत्ता उडवर्थ ने लिखा है कि व्यक्तित्त्व व्यक्ति के व्यवहार का समग्र गुण है, जैसा कि वह उसके विचार और अभिव्यक्ति की रीति, उसकी अभिवृत्ति और रुचि, कार्य शैली और उसके व्यक्तिगत जीवन–दर्शन से प्रकट होता है। मनोवैज्ञानिक मन (Munn) ने कहा कि व्यक्तित्त्व व्यक्ति की संरचनाओं, आचरण की विधियों, रुचियों, अभिवृत्तियों, योग्यताओं और प्रवणताओं का अत्यधिक संश्लिष्ट निकाय है। इन परिभाषाओं से यह आशय निकलता है कि व्यक्ति द्वारा समाज में विशेष परिस्थितियों में किए जाने वाले व्यवहार या आचरण के समग्र गुणों (Traits) को व्यक्तित्त्व कहा जा सकता है।

गांधी जी ने व्यक्तित्त्व की इस प्रकार की कोई व्याख्या नहीं की है; किन्तु व्यक्तित्त्व के अन्तर्गत जिन गुणों का समावेश होता है, उनकी मूल्यात्मक व्याख्या की है। उन्होंने इस विषय का सूक्ष्म विवेचन किया है कि 'नए प्रकार के मनुष्य' या आदर्श व्यक्तित्व में किन–किन तत्त्वों की अपेक्षा है ?

3. व्यक्तित्त्व की महत्ता

गांधी जी संख्या की तुलना में गुण को अधिक महत्त्व देते थे। इसीलिए वह अपने राजनीतिक और सामाजिक जीवन में व्यक्ति या व्यक्तित्त्व–निर्माण पर सबसे अधिक बल देते रहे हैं। उनका दृढ़ विश्वास था कि मानसिक और आचारात्मक दृष्टि से सशक्त एक ही व्यक्ति किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त हो सकता है। उन्होंने ऐसे सशक्त व्यक्तियों के निर्माण के लिए ही आश्रमों की स्थापना की थी। इन आश्रमों में एक विशेष प्रकार के अनुशासन के अन्तर्गत एक विशेष प्रकार का व्यक्तित्व विकसित किया जाता था। यहाँ पर मुख्य रूप से सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता–निवारण, कायिक श्रम, सर्वधर्म समभाव, नम्रता, स्वदेशी के पालन की दीक्षा दी जाती थी। आश्रम की सम्पूर्ण कार्य–प्रणाली जीवन के इन्हीं आधारभूत तत्त्वों के विकास को दृष्टि में रखकर निश्चित की जाती थी। डा0 पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है, ''जब हम इन आश्रमों की आन्तरिक कार्य–प्रणाली से परिचित हो जाते हैं, तो हमें पता लगता है कि इन आश्रमों ने ने अपने मुख्य प्रयोजन के साथ–साथ जीवन के उचित दिशा में विकास के लिए पर्याप्त क्षेत्र प्रदान किया।''

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि गांधी जी व्यक्तित्त्व को अर्जित गुण मानते हैं, जो प्रयास और साधना से इच्छित रूप में प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने अनुभव किया था कि जन–बल से नहीं अपितु विशेष प्रकार के व्यक्तित्व–बल से समाज और राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। अतः उन्होंने परिस्थितियों के अनुरूप व्यक्तित्त्व ढालने का प्रयत्न किया, जिसमें उन्हें

सफलता मिली। उन्होंने अपने जीवनकाल में देश के हजारों लोगों की जीवन–दिशा परिवर्तित कर दी; उनके जीवन–दर्शन, रहन–सहन, चिन्तन–प्रणाली, आचरण, व्यवहार में आमूल परिवर्तन कर दिए। संक्षेप में, उनके व्यक्तित्व का नव–निर्माण किया।

गांधी जी के विचार से व्यक्तित्व एक प्रकार का साधन है। किसी विशिष्ट साध्य के लिए विशेष प्रकार के व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है। इसीलिए उन्होंने स्वतन्त्रता–संग्राम के लिए विशेष प्रकार के व्यक्तित्त्व गढ़े, और स्वतन्त्रता के पश्चात् भी उन्होंने अनुभव किया कि विशिष्ट प्रकार के व्यक्तित्व ही समाज का यथार्थ कल्याण कर सकते हैं।

4. धर्मानुप्राणित व्यक्तित्व

गांधी धर्म मूलतः मानवतावादी है। उसका चरम लक्ष्य मानव–सेवा है। जो व्यक्ति राष्ट्र या समाज की सेवा करना चाहता है, उसे अपना विशेष प्रकार का व्यक्तित्त्व निर्मित करना होगा; उसे अपने में विशिष्ट गुणों का समाहार करना होगा। इनमें सर्वप्रथम और सर्वोपरि गुण यह है कि व्यक्ति मन, वचन और कर्म से धार्मिक हो। उनके धर्म के प्रमुख तत्त्व हैं सत्य और प्रेम अथवा अहिंसा। वह चाहते हैं कि जो व्यक्ति वस्तुतः मनुष्य कहलाना चाहता है, उसके दैहिक, मानसिक और सांस्कृतिक गुणों का विकास उन्हीं तत्त्वों पर आधारित होना चाहिए। यद्यपि वह अपनी कृतियों में अन्य गुणों–अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, ब्रह्मचर्य, विनम्रता, कायिक श्रम आदि का उल्लेख अवश्य करते हैं; किन्तु उनका विश्वास है कि जो व्यक्ति सत्य और अहिंसा के गुणों का विकास कर लेता है, उसमें अन्य गुण स्वभावतः उत्पन्न हो जाएंगे। विचार और आचरण व्यक्तित्व के आधारभूत तत्त्व माने जाते हैं। गांधी जी के अनुसार मनुष्य का आचार और विचार सत्य (सत्य ही ईश्वर है) या ईश्वर को साक्षी मानकर होना चाहिए, ईश्वर के प्रति समर्पण के भाव से होना चाहिए। इस प्रकार का स्वभाव त्याग और सेवा करने से विकसित होता है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व में दैहिक तत्त्व को प्रमुख स्थान देते हैं। गांधी जी का धर्म इसकी उपेक्षा नहीं करता है। वह व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास मोक्ष की स्थिति में मानते हैं। मोक्ष की व्याख्या करते हुए वह कहते हैं, ''मोक्ष का अर्थ हर प्रकार से स्वस्थ होना ही है। अमरत्व तो आत्मा का गुण है। उसके लिए सब शुद्ध शरीर पैदा करने का प्रयत्न करें।'' यहां पर गांधी जी व्यक्तित्व के दैहिक तत्त्व को भी धर्म के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या अमरत्व से सम्बन्धित कर देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी व्यक्तित्त्व के दैहिक, मानसिक और आचरणात्मक पक्षों को धर्म से सम्बन्धित करते हैं। चूंकि गांधी–धर्म संसार या प्रकृति के आधारभूत नियमों या शाश्वत मूल्यों पर आधारित है, इसलिए वह मनुष्य के व्यक्तित्त्व को इन्हीं स्थायी मूल्यों पर विकसित करने का आग्रह करते हैं। उनकी दृष्टि में सर्वाधिक सफल व्यक्तित्त्व वही है, जो ईश्वरीय या प्राकृतिक नियमों के साथ मन, वचन और कर्म से अधिक–से–अधिक तादात्म्य या सादृश्य स्थापित करके संसार के दुःख–दैन्य को दूर करने के लिए सशक्त क्षमता उपार्जित करता है। विश्वविश्रुत दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल भी भावी मनुष्य में इसी प्रकार के व्यक्तित्त्व–मूल्यों की प्रतिष्ठा चाहते हैं, ''जो लोग संसार का पुनरुत्थान आरम्भ करना चाहते हैं, उन्हें अकेलेपन, दरिद्रता और निन्दा का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए। उनमें सत्य और प्रेम के सहारे एक अक्षय आशा लेकर जीवित रहने की क्षमता होनी चाहिए; उन्हें ईमानदार, बुद्धिमान और निर्भीक होना चाहिए और उनके सामने एक सुदृढ़ लक्ष्य होना चाहिए।''

5. व्यक्तित्त्व का व्यावहारिक पक्ष और धर्म

संगठित व्यक्तित्त्व का सबसे बड़ा लक्षण सन्तुलन है। प्रायः सामान्य परिस्थितियों में अधिकांश लोग विचार और आचार से सन्तुलित रहते हैं; किन्तु विषम परिस्थितियों में सन्तुलन खो देते हैं और विघटित व्यक्तित्त्व का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसे लोग समाज की

रीति–नीति का उल्लंघन करने लगते हैं तथा समाज के अन्य व्यक्तियों का नियन्त्रण स्वीकार नहीं करते हैं। वे स्थायी या अस्थायी रूप से मानसिक पतन की उस अवस्था को व्यक्त करने लगते हैं, जब उनसे दूसरे व्यक्तियों के जीवन, हितों, धन की रक्षा को खतरा पहुँचने लगता है। इस विघटन के अनेक कारण हो सकते हैं, जैसे–भय, भग्नाशा, निराशा, जीवन–दर्शन का अभाव आदि? समाजशास्त्रियों का मत है कि युग–युगों से प्रत्येक समाज में धर्म इन्हीं व्यक्तित्त्व–विघटक कारकों को न्यूनाधिक रूप में दूर करने का प्रयत्न करता रहा है और मनुष्य को व्यावहारिक जीवन की इन अपरिहार्य समस्याओं का सामना करने की क्षमता प्रदान करता रहा है।

गांधी जी की धार्मिक अवधारणा का विकास अनेक विषम समस्याओं से त्रस्त भारत में हुआ था। यदि गांधी–धर्म अन्धकारपूर्ण परिस्थितियों में मार्ग–प्रकाश का कार्य न कर सकता, तो शायद भारत के करोड़ों निराश, दलित, दुःखी लोग उन्हें अपना 'राष्ट्रपिता' या 'बापू' न स्वीकार करते, उनकी नीति का अनुसरण न करते, उनमें देवत्व के अंश का अनुभव न करते। वस्तुतः, गांधी जी ने अपनी धार्मिक भावना से ही भारत की निस्पन्द जनता में संजीवनी–शक्ति का संचार किया, उसके हृदय में समाए हुए विदेशी सत्ता के भय को दूर किया और लक्ष्य–प्राप्ति के लिए साहस के साथ कदम बढ़ाने के लिए प्रेरित किया।

किंग्सले डेविस[1], इञ्जर[2] आदि समाजशास्त्रियों[3] का मत है कि धर्म मुख्यतः मृत्यु तथा संवेगात्मक अशान्ति की समस्या के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करता है, मोक्ष का मोहक लक्ष्य सामने रखता है तथा अपनी संस्थाओं द्वारा कल्याणकारी और उपयोगी कार्य करता है। धर्म के ये तीनों प्रकार के कार्य व्यक्तित्त्व के निर्माण में सहायक होते हैं। गांधी–धर्म ने इन तीनों कार्यों की ओर विशष ध्यान दिया।

---

1. के० डेविस – ह्यूमन सोसाइटी, पृ० 531
2. जे० मिल्टन इञ्जर – रिलीजन, इण्डीविजुअल एण्ड सोसाइटी, पृ० 74
3. शम्भूरत्न त्रिपाठी – समाज और अपराध, पृ० 64

(क) मृत्यु– मृत्यु का भय मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है, किन्तु धर्म इस भय को आंशिक या पूर्ण रूप से बदल देता है और इसका एक रोचक और महत्त्वपूर्ण अर्थ प्रदान करके व्यक्ति को निर्माण, सहयोग और सद्‌भावना की ओर प्रेरित करता है। गांधी जी की धार्मिक अवधारणा ने मृत्यु के भय को दूर करने का व्यावहारिक प्रयत्न किया। उन्होंने आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को स्वीकार किया तथा यह माना कि जन्म–मरण ईश्वर की इच्छा से होते हैं। इन अटल नियमों को परिवर्तित करना मनुष्य की शक्ति में नहीं है। जब मृत्यु निश्चित है और निश्चित समय पर होनी है, तो मृत्यु से भय नहीं करना चाहिए। उन्होंने 'आश्रमवासियों से' नामक पुस्तक में आदर्श मृत्यु के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए थे। इन उदाहरणों में उन्होंने सबसे श्रेष्ठ मृत्यु सुकरात की मानी थी। उन्हें सुकरात के ये वचन अनुकरणीय प्रतीत हुए थे, ''मेरा दृढ़ विश्वास है कि भले आदमी का इस लोक या परलोक में अहित होता ही नहीं। भले आदमियों और उनके साथियों का ईश्वर कभी त्याग नहीं करता। फिर मैं तो यह भी मानता हूँ कि मेरी या किसी की मौत अचानक नहीं आती। मृत्युदण्ड मेरे लिए सजा नहीं है।''[1] गांधी जी अपने आश्रम की सदस्या गंगा देवी की मृत्यु को कलापूर्ण मानते हैं–''उनको (गंगा देवी) जीने का उल्लास न था और मरने का भय न था– उन्होंने हँसते हुए मृत्यु को गले लगाया। उन्होंने मरने की कला हस्तगत कर ली थी। जैसे जीने की कला है, वैसे मरने की भी कला है।''[2]

मृत्यु–सम्बन्धी उक्त मत हिन्दुओं के धर्म–ग्रन्थों तथा अन्य धर्मों के ग्रन्थों में भी मिलता है; किन्तु फिर भी अधिकांश मनुष्य मृत्यु होने पर दुःख करते हैं। गांधी जी ने इस दुःख से मुक्त होने के लिए एक व्यावहारिक उपाय बताया कि यदि व्यक्ति अपनी कौटुम्बिकता का विस्तार देशव्यापी कर ले, तो देश में होने वाला प्रत्येक जन्म और प्रत्येक मृत्यु उसी के परिवार की हो जाएगी। जब प्रेम का इतना विस्तार कर लेगा, तो वह कितनी खुशी मनाएगा और कितना शोक करेगा ? ऐसी स्थिति में उसे यही मान कर चलना पड़ेगा, ''जन्म–मृत्यु दो भिन्न

---

1. गांधी – आश्रमवासियों से, पृ० 184
2. गांधी – आश्रमवासियों से, पृ० 224

स्थितियां नहीं हैं, परन्तु एक ही स्थिति के दो पहलू हैं। एक पर दुःखी होने और दूसरे पर खुशी मनाने का कोई कारण नहीं है।''[1]

गांधी जी ने इस सिद्धान्त को स्वयं पालन करके दूसरों को प्रेरणा प्रदान की। उन्हें अपने निकट के लोगों की मृत्यु के अवसर पर उद्विग्न और अशान्त होते हुए नहीं देखा गया। वह स्वयं मृत्यु का सदा स्वागत करने के लिए तैयार रहते थे। उन्होंने कई बार स्वेच्छा से अनशन किए और मृत्यु को निमन्त्रण दिए। वह किसी भी बाह्य–सुरक्षा को किसी प्रकार स्वीकार नहीं करते थे। 1940 में; तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने गांधी जी की सुरक्षा की व्यवस्था की इच्छा व्यक्त की थी। इसका उत्तर उन्होंने दिया था कि वह किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं चाहते हैं; क्योंकि वह बीस वर्षों से हत्या की आशंका का सामना करते रहे हैं और अनुभव ने उन्हें सिखा दिया है कि ईश्वर की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता है, और न तो कोई हत्यारा किसी के जीवन की अवधि में कमी ही कर सकता है और न कोई मित्र उसकी रक्षा कर सकता है।[2]

नोआखाली के साम्प्रदायिक दंगों को शान्त करने के लिए वह वहाँ दौरा करने गए। कट्टर मुसलमान गांधी जी का विरोध कर रहे थे। यह आशंका थी कि कोई उन पर आक्रमण न कर दे। कुछ लोगों ने उन्हें धमकी दी; किन्तु उन्होंने मृत्यु की कभी चिन्ता नहीं की। वह और उनके साथी बिना किसी सुरक्षा के वहाँ शान्ति–स्थापना का कार्य करते रहे। मृत्यु के कुछ दिनों पूर्व (20 जनवरी 1948) विड़ला–भवन दिल्ली की प्रार्थना–सभा में बम द्वारा उनकी हत्या करने का प्रयास किया गया था; किन्तु वह विचलित न हुए थे। इस घटना के बाद भी प्रार्थना–सभा में पहुँचते रहे। उन्होंने बम–काण्ड के बाद प्रार्थना सभा में कहा था, ''हमला हो, कोई पुलिस भी मदद पर न आवे, गोलियां भी चलें और तब भी मैं स्थिर रहूँ और रामनाम

1. गांधी – यंग इण्डिया, 20–11–24
2. घनश्यामदास बिड़ला – बापू की छत्रछाया में, पृ० 20

लेता और आपसे लिवाता रहूँ, ऐसी शक्ति ईश्वर मुझे दे, तब मैं धन्यवाद के लायक हूँ।''[1] ब्रिटिश सरकार की निरंकुशता क्रूरता को देखते हुए गांधी जी का जीवन सदा संकट में रहता था। लेकिन गांधी जी मृत्यु के भय से कभी आत्मा का दमन नहीं करते थे। दक्षिणी अफ्रीका और भारत में अनेक बार उन्होंने सत्य और न्याय के लिए प्राणों की बाजी लगा कर काम किया।

गांधी जी के मृत्यु–सम्बन्धी विचारों और आचरणों ने ही देश की जनता के हृदय से मृत्यु का भय निकाल दिया था और करोड़ों लोग निहत्थे होकर सशस्त्र ब्रिटिश सत्ता का सामना करने के लिए उनके पीछे–पीछे चल पड़े थे और सैकड़ों लोगों ने अपने जीवन को उत्सर्ग कर दिया था। हिंसक बन कर प्राणोत्सर्ग का साहस तो प्रायः किया जाता है, किन्तु अहिंसक बन कर और निरस्त्र रहकर मृत्यु का आलिंगन करने का साहस गांधी–धर्म ने ही उत्पन्न किया। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि गांधी जी के विचार और व्यवहार ने स्वतन्त्रता–संग्राम के काल में मृत्यु को पुण्य धार्मिक संस्कार के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया था तथा देश के अधिकांश लोगों के व्यक्तित्त्व को 'करो या मरो' मन्त्र से प्रदीप्त कर दिया था।

(ख) भय, निराशा तथा भग्नाशा–जब व्यक्ति राष्ट्र–सेवा या समाज–सेवा के लिए आगे बढ़ता है, तो भौतिक सुख–सुविधाओं के अभाव तथा असफलता का भय उसे पीछे खींचता है। पद–त्याग करने, नौकरी छोड़ने, व्यवसाय विसर्जित आदि करने से संवेगात्मक अशान्ति उत्पन्न होती है, परिवार के सदस्यों की असुरक्षा की कल्पना से चित्त उद्विग्न होता है। किसी प्रकार का त्याग मन में भय उत्पन्न करता है। गांधी जी मनुष्य की इस स्वाभाविक दुर्बलता से भली भांति परिचित हैं। उनका अनुभव है कि इस भय–वृत्ति के त्याग के बिना कोई मनुष्य किसी महत् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकता है, सच्चे धर्म का पालन नहीं कर सकता है। ''अभय के

---

1. गांधी – प्रार्थना–प्रवचन, भाग 2, पृ० 329

बिना अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? हरि के मार्ग पर चलना खांडे की धार पर चलना है, वहाँ कायर का काम नहीं है।''[1]

गांधी जी ने भय के अनेक भेद किए हैं—मृत्यु का भय, सम्पत्ति लुट जाने का भय, परिवार विषयक भय, शस्त्र प्रहार का भय, प्रतिष्ठा का भय, किसी के बुरा मानने का भय आदि। सामान्यतः यह माना जाता है कि मृत्यु का भय दूर कर देने से अन्य भय स्वयं दूर हो जाते हैं। किन्तु गांधी जी इससे सहमत नहीं हैं। उनका विश्लेषण है कि अनेक लोग मृत्यु से नहीं डरते हैं; किन्तु अन्य प्रकार के दुःखों को नहीं सहन कर सकते हैं, जैसे प्रतिष्ठा या धन अथवा वियोग के भय से बचने के लिए लोग प्राण त्याग देते हैं या अनुचित काम कर उठाते हैं। गांधी जी कहते हैं कि सत्य के उपासक और धर्म के साधक को राजा हरिश्चन्द्र की तरह सभी प्रकार के भयों से ऊपर उठना चाहिए। बिना सब प्रकार के भयों से मुक्त हुए संसार में सत्य का पालन सम्भव नहीं है।

गांधी जी भयमुक्त होने के लिए व्यावहारिक उपाय भी बताते हैं। वह कहते हैं कि भय मनुष्य की कल्पना की उपज है। मनुष्य अपने शरीर तथा संसार की अन्य उपभोग की वस्तुओं पर आसक्ति बहुत रखता है। वह जिन वस्तुओं का उपभोग करता है, उनको अपनी समझता है, उन पर अधिकार समझता है। अतः जब ये वस्तुएं उससे पृथक् होती हैं या उनके पृथक् होने की सम्भावना होती है, तो उसे कष्ट होता है। वस्तुतः व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि यह शरीर मेरा नहीं ईश्वर का है, और संसार की समस्त वस्तुएं मेरी नहीं ईश्वर की हैं : व्यक्ति तो इस शरीर तथा अन्य वस्तुओं का ईश्वर द्वारा नियुक्त रक्षक मात्र है, उन पर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं है। जब वह इस प्रकार की कल्पना को दृढ़ निश्चय और सतत् प्रयत्न से अपना स्वभाव बना लेगा, तो धीरे—धीरे धन, शरीर, परिवार आदि से 'अपनापन' हट जाएगा और किसी प्रकार का भय का अनुभव नहीं होगा। संक्षेप में, गांधी जी कहते हैं कि मोह भय का

---

1. गांधी — धर्म—नीति, मंगल—प्रभात, पृ० 146

कारण है और मोह–रहित स्थिति की पराकाष्ठा ही अभय है। पूर्ण अभय की स्थिति आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है अर्थात् व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की अवस्था है। इसीलिए गांधी जी ने व्यक्तित्व के विकास के लिए जो व्रत निर्धारित किए थे, उनमें अभय को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। उन्होंने स्वयं सब प्रकार के मोह त्याग दिए थे और अभय की उच्च अवस्था में पहुँच गए थे। फलतः उनकी वाणी का समाज पर बहुत असाधारण प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्रता–संग्राम के काल में देश के लाखों लोगों ने सभी प्रकार के असाधारण त्याग किए, और सभी प्रकार के भयों से मुक्त हुए। यदि उस समय स्वतन्त्रता–संग्राम के सेनानियों ने धन, परिवार, पद, प्रतिष्ठा, शरीर, सामाजिक रीति–रिवाजों का मोह किया होता, तो भारत स्वतन्त्र न हुआ होता। गांधी जी के अभय के मन्त्र ने ही जनता में साहस का संचार किया।

यों तो गांधी जी का सम्पूर्ण जीवन अभय का सर्वोत्तम उदाहरण है; किन्तु यहां पर हम एक छोटा–सा उदाहरण देंगे, जिससे ज्ञात होगा कि उनके विचारों में कितना प्रबल प्रभाव था। गांधी जी के सच्चे अनुयायी डा0 राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी आत्म–कथा में लिखा है, ''गांधी जी के चम्पारन पहुँचते ही रैयतों के दिल से डर न मालूम कहाँ भाग गया। जो अदालत में जाने से डरते थे, वे गांधी जी के पास बहुत बड़ी संख्या में आकर अपना दुःख बताने लगे। उन लोगों के सीधे–सादे हृदय पर न मालूम कहाँ से यह अमिट छाप पड़ गई कि उनका उद्धारक आ गया, अब उनका दुख दूर हो जाएगा।'' डा0 राजेन्द्र प्रसाद जी स्वयं सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों के भय से किस प्रकार मुक्त हुए, इसका विवरण उन्होंने इस प्रकार दिया है–''(गांधी जी के साथ) चम्पारन में हमारे जीवन पर भी बहुत असर पड़ा। वहीं हम लोगों ने जाति–पांति का भेद छोड़ा। उस समय तक मैं जाति–भेद को बहुत मानता था और बर्तता था। ब्राह्मण छोड़ कर किसी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ दाल–भात इत्यादि जिसे यहाँ कच्ची रसोई कहते हैं, कभी नहीं खाया था। गांधी जी ने कहा 'यहाँ अलग–अलग चौका करते रहोगे, तो कैसे काम चलेगा–जो लोग एक काम में लगे हैं मान लो

कि वे सब एक जाति के हैं।' बस, हम लोग एक–दूसरे की बनाई रसोई खाने लगे–यद्यपि हममें कई जातियों के लोग थे। जिन्दगी में सादगी बहुत आ गई। हम लोगों के साथ नौकर थे। वे सब एक–एक करके हटा दिए गए। केवल बर्तन साफ करने के लिए एक नौकर रह गया। अपने हाथों कुएं से पानी भर लेना, नहाना, कपड़े साफ कर लेना, अपने जूठे बर्तन धो लेना, रसोई घर में तरकारी बनाना, चावल धोना इत्यादि सब काम हम खुद किया करते। कहीं जाना हो, तो तीसरे दर्जे में रेल में सफर करना, और जहाँ तक हो सके, पैदल चलना–सब कुछ वहाँ हमने गांधी जी से सीखा।'' गांधी जी के प्रभाव से, इस प्रकार से भययुक्त होने के उदाहरण लाखों हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि उनके विचारों ने जनता में सच्चे धर्म की प्रतिष्ठा करके विचारों और आचारों में किस प्रकार का असाधारण परिवर्तन किया।

जिस समय गांधी जी भारतवर्ष के सार्वजनिक जीवन में आए, उस समय यहाँ की जनता पूर्ण निराशा और भग्नाशा की स्थिति में थी। कई शताब्दियों की परतन्त्रता ने देश की आत्मा को रौंद डाला था। राजनीतिक दासता, आर्थिक हीनता, सामाजिक विषमता आदि ने सम्पूर्ण देश के व्यक्तित्व के खण्ड–खण्ड कर दिए थे। राष्ट्र को उत्थान–पथ पर अग्रसर करने के लिए सबसे पहले यही आवश्यकता थी कि यहाँ के लोगों के मस्तिष्क से निराशा और भग्नाशा को दूर किया जाता; उनमें उन्नति और प्रगति के लिए तीव्र आकांक्षा उत्पन्न की जाती; उनकी धमनियों के स्थिर रक्त को आशा की शक्ति से संचालित किया जाता तथा उनमें एक सुनिश्चित जीवन–दर्शन का विकास किया जाता। यह कार्य केवल 'स्वतन्त्रता प्राप्त करना है' का नारा लगाकर नहीं किया जा सकता था; क्योंकि जनता विश्व की सबसे बड़ी शक्ति ब्रिटिश सत्ता के समक्ष अपने को नितान्त निरीह और निर्बल अनुभव कर रही थी। उस समय भारत से अंग्रेजों को हटाने का विचार ही दिवास्वप्न के समान था। गांधी जी कुशल समाज मनोवैज्ञानिक थे। वह जनता की इस मानसिक स्थिति को भली प्रकार समझ रहे थे। अतः उन्होंने इस अवसर पर भारतीय अध्यात्म–दर्शन का सहारा लिया और जनता को गीता में

बताए हुए 'निष्काम कर्म' के सिद्धान्त को स्मरण कराया, जिसके अनुसार फल की इच्छा से रहित होकर ही कर्म करना ही मनुष्य का पवित्र लक्ष्य होता है, और परिणाम ईश्वर के हाथ में होता है, जिसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वह इस सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए यहाँ तक कहते हैं, ''जो मनुष्य परिणाम का ध्यान करता रहता है, वह बहुत बार कर्त्तव्य–भ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता घेरती है, इससे वह क्रोध के वश हो जाता है और फिर वह न करने योग्य काम करने लग पड़ता है, एक कर्म में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में पड़ता जाता है।'' इसका आशय यह नहीं है कि गांधी जी आंख बन्द करके निरुद्देश्य कर्म करने को कहते हैं; किन्तु वह परिणाम के प्रति आसक्ति या मोह को उचित नहीं समझते हैं। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ कर्म वही है, जो बन्धनमुक्त होकर किया जाता है, जो आशारहित होकर किया जाता है। कर्म छोड़ना पतन और अधर्म है और कर्म करते हुए फल छोड़ना प्रगति और धर्म है। ''ऐसा सुवर्ण नियम मनुष्य को अनेक धर्म–संकटों से बचाता है। इस मत के अनुसार खून, झूठ, व्यभिचार इत्यादि कर्म अपने आप त्याज्य हो जाते हैं। मानव–जीवन सरल बन जाता है और सरलता में से शान्ति उत्पन्न होती है।'' भग्नाशा और निराशा सदा फलासक्ति से होती है। यदि व्यक्ति या समूह में फलासक्ति न रहे और निष्काम कर्म की दृढ़ भावना उत्पन्न हो जाए, तो सामाजिक जीवन की असफलताओं और अभावों से उसे कष्ट न हो; अशान्ति न अनुभव हो।

गांधी जी यह अनुभव करते हैं कि निष्काम कर्म की साधना एक कठिन कार्य है। अतः वह इसके लिए भक्ति–मार्ग का अनुसरण करने के लिए कहते हैं; क्योंकि शुद्ध भक्ति ज्ञान और निष्काम कर्म दोनों का मार्ग प्रशस्त कर देती है। वह बाह्याचार, पूजा–पाठ, अन्धविश्वास को भक्ति नहीं मानते हैं। उन्होंने गीता के अनुसार भक्त के लक्षण इस प्रकार निर्धारित किए हैं : ''जो किसी का द्वेष नहीं करता, जो करुणा का भण्डार है और ममता–रहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख–दुःख, शीत–उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील है, जो सदा सन्तोषी है, जिसके निश्चय कभी बदलते नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वर को अर्पण कर दिए हैं, जिससे लोग

उद्वेग नहीं पाते, जो लोगों का भय नहीं रखता, जो हर्ष–शोक–भयादि से मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होने पर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभ का त्याग करने वाला है, जिसे मान–अपमान समान है, जिसे स्तुति से खुशी नहीं होती और निन्दा से ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्तप्रिय है, जो स्थिर बुद्धि है, वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री–पुरुषों में सम्भव नहीं है।''

जब व्यक्ति अभ्यास से सुख–दुख, आशा–निराशा, मान–अपमान आदि संवेगों से ऊपर उठ जाएगा, और निष्काम कर्म में तन्मय होगा, तो उसे भय, भग्नाशा, निराशा आदि वृत्तियां पीड़ित नहीं कर सकेंगी। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्त्व में इन गुणों का जितना अधिक विकास कर लेगा, उसे उतनी ही अधिक मानसिक और आत्मिक शान्ति प्राप्त होगी। भक्ति की पराकाष्ठा या साधना की चरम स्थिति ही मोक्ष की स्थिति होती है, जिसमें व्यक्ति को परम शान्ति प्राप्त होती है। गांधी जी का विचार है कि मोक्ष के लिए सतत् प्रयत्न करना प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य है, अतः प्रत्येक व्यक्ति को उक्त गुणों का विकास करना चाहिए।

गांधी जी का अनुभव है कि आज के युग की अशान्ति और अव्यवस्था, भग्नाशा और निराशा का मुख्य कारण आध्यात्मिक मूल्यों का ह्रास है, समुचित जीवन–दर्शन का अभाव है। आज के व्यक्ति का लक्ष्य है भोग और ऐन्द्रिक सुख, जो मनुष्य का वास्तविक साध्य नहीं है। मनुष्य का मुख्य लक्ष्य मोक्ष या ईश्वर के निकट पहुँचना है। ऐन्द्रिक सुख और भोग इस मार्ग की बाधाएं हैं। भोग मनुष्य को अधोगामी बनाता है, मोक्ष या चरम शान्ति के मार्ग से दूर हटाता है, दुःख–दैन्य को जन्म देता, मानसिक अशान्ति उत्पन्न करता है। वास्तविक शान्ति और सुख त्याग से ही प्राप्त होते हैं, ''मानव–शरीर सेवा के लिए बनाया गया है, भोग के लिए हरगिज नहीं। सुखी जीवन का रहस्य त्याग में है। त्याग ही जीवन है। भोग मृत्यु है। इसलिए हर एक का हक है और उसकी इच्छा होनी चाहिए कि वह निष्काम सेवा करते हुए सवा सौ वर्ष जिए। ऐसा जीवन पूरी तरह और एकमात्र सेवा के लिए समर्पित होना चाहिए। ऐसी सेवा के लिए

किया हुआ त्याग अवर्णनीय आनन्द देता है। उसे कोई छीन नहीं सकता, क्योंकि इस अमृत का स्रोत भीतर होता है। वही जीवन को पोषण देता है। उसमें चिन्ता या अधीरता की सम्भावना नहीं हो सकती। इस आनन्द के बिना दीर्घ जीवन असम्भव है और सम्भव भी हो, तो उसका कोई मूल्य नहीं है।''[1]

इस प्रकार गांधी जी व्यक्तित्त्व के संश्लिष्ट विकास का एक व्यावहारिक उपाय प्रस्तुत करते हैं, जिसका अनुसरण करके व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की सन्तुलित संरचना कर सकता है और स्थायी शान्ति एवं सुख की उपलब्धि कर सकता है। पाश्चात्य विचारक अलवर्ट स्विट्जर ने भी यही निष्कर्ष निकाला है। उनका मत है कि आज के युग ने आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता का अधिक विकास कर लिया, फलतः अशान्ति और विनाश के लक्षण उभर कर सामने आ गये हैं। यदि मनुष्य सुख और शान्ति चाहता है तो उसे आध्यात्मिक और भौतिक मूल्यों में सन्तुलन करना होगा।[2] डा0 सोरोकिन ने भी लिखा है कि समस्त मानसिक विकृतियों के निवारण, मानसिक व्यक्तित्व की उन्नति, व्यक्ति की रचनात्मक शक्तियों के विकास तथा शान्ति प्राप्त करने का साधन ऐन्द्रिक सुखों का त्याग और परार्थवादी वृत्तियों का विकास ही है।[3] बर्ट्रेण्ड रसेल का निष्कर्ष है कि सांसारिक जीवन के संघर्ष और प्रकट विफलताओं से उत्पन्न अशान्ति को दूर करने का एकमात्र उपाय परिष्कृत जीवन–दर्शन का वरण है। वह कहता है कि यदि व्यक्तित्त्व का मानवोचित विकास करना है, तो व्यक्ति को चिरन्तन जगत् से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।[4]

---

1. गांधी – हरिजन, 24–2–46, 5–19
2. अलबर्ट स्विट्जर – दी फिलासफी आफ सिविलीजेसन, पृ० 86
3. डा० सोरोकिन– मानवता की नवरचना, पृ० 285
4. बर्ट्रेण्ड रसेल – प्रिंसिपल्स आफ सोशल रिकांस्ट्रक्सन, पृ० 205

6

गांधी : धर्म और जादू, रूढ़ि तथा विज्ञान

1. प्रारम्भिक

समाजशास्त्रियों का मत है कि धर्म, जादू, रूढ़ि तथा विज्ञान का जन्म मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हुआ। समाज में इनका अस्तित्व आदिकाल से है। जैसे–जैसे सभ्यता का विकास हुआ है, वैसे–वैसे इनके रूप में भी परिवर्तन होता गया है। प्राचीनकाल में या सभ्यता की आदिम अवस्था में धर्म का जादू और रूढ़ि से अधिक सम्बन्ध रहा है, विज्ञान से कम। आधुनिक युग में धर्म ने जादू और रूढ़ि का किसी सीमा तक परित्याग किया है, और वह विज्ञान के अधिक निकट पहुँच रहा है। यह कहना अनुचित न होगा कि विज्ञान ने ही धर्म को जादू और रूढ़ियों से मुक्ति पाने की प्रेरणा दी है।

प्रस्तुत अध्याय में, हमें यह विचार करना है कि गांधी जी की धर्म की अवधारणा में जादू, रूढ़ि तथा विज्ञान का क्या स्थान है ?

2. धर्म और जादू

जादू एक ऐसी विशेष प्रकार की क्रिया को कहते हैं, जिससे अलौकिक या आधिभौतिक शक्तियों को नियन्त्रित किया जाता है और उनसे इच्छानुसार भले–बुरे काम लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए कुछ लोग रोग मुक्त होने, फसल बढ़ाने, विरोधी को पराजित करने, शत्रु की हत्या करने में विश्वास करते हैं। ऐसे जादुई विश्वास अधिकांशतः आदिवासियों और कुछ–कुछ सभ्य समाजों में पाये जाते हैं। भारतीय धर्म में कापालिक, तान्त्रिक, वाममार्गी आदि इसी प्रकार के जादू में विश्वास करते हैं। इतना ही नहीं, वे इसी को धर्म मानते हैं; किन्तु धर्म का यह विकृत अर्थ है।

गांधी जी ने धर्म की जो अवधारणा प्रस्तुत की है, यदि हम उसे अपने सामने रखें, तो स्पष्ट होगा कि उनके धर्म में जादू के लिए कोई स्थान नहीं है। गांधी जी का धर्म निष्काम और स्वार्थरहित साधना को सर्वोपरि स्थान देता है और जादू तात्कालिक और प्रत्यक्ष स्वार्थों को प्रमुखता प्रदान करता है। गांधी जी धर्म में आडम्बर, प्रदर्शन और विवेकरहित कार्यों को धर्म–लक्ष्य की पूर्ति की बाधा मानते हैं; किन्तु जादू तो इन्हीं बाह्याचारों पर आश्रित ही होता है। गांधी जी के धर्म का मुख्य आधार नीति और बुद्धि है; किन्तु जादू में बलि, व्यभिचार, सुरापान तथा अन्य अनेक घृणित कार्यों का समावेश होता है। गांधी जी धर्म में त्याग, तपस्या, मानव–सेवा को महत्त्व देते हैं, किन्तु जादू भोग, विलासिता वैयक्तिक स्वार्थपूर्ति को श्रेय मानता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गांधी जी की धर्म की अवधारणा का जादू से कोई समझौता नहीं होता है।

इस सम्बन्ध में उन्होंने 'यंग इण्डिया' में अपने कुछ विचार भी व्यक्त किए थे। मृतात्माओं से सम्पर्क करना या उन्हें नियन्त्रित करना जादू का महत्त्वपूर्ण अंग है। गांधी जी ने लिखा था कि यद्यपि मृतात्माओं से सन्देश मिलने के सम्बन्ध में अविश्वास करने का उनके पास कोई प्रमाण नहीं है; किन्तु उन्हें मृतात्माओं के सन्देश कभी नहीं मिले। उनका विश्वास था कि जो लोग सन्देश प्राप्त करने या सम्पर्क स्थापित करने की बात करते हैं, उनमें अधिकांश व्यक्ति भ्रमित होते हैं या उनका दिमाग बिगड़ा होता है, तथा ऐसे व्यक्ति व्यावहारिक कामों के लिए नितान्त अयोग्य हो जाते हैं, उन्हें कोई लाभ भी नहीं होता है। यदि यह मान लिया जाए कि मृतात्माओं से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है, तो भी गांधी जी की दृष्टि में उनसे सम्पर्क स्थापित करना मृतात्माओं के हित में उचित नहीं है; क्योंकि सम्पर्क आत्मा में पृथ्वी या संसार के प्रति मोह उत्पन्न करता है, जबकि आवश्यक यह है कि आत्माएं मोह और आसक्ति से ऊँचे उठें। इसके अतिरिक्त वह मानते हैं कि मृत्यु उपरान्त आत्मा शुद्ध नहीं हो जाती है, अपितु

उसमें जीवितावस्था की समस्त दुर्बलताएं बनी रहती हैं'; अतः ऐसी आत्माओं से प्राप्त सूचनाएं सही नहीं हो सकती हैं।

जादू में गुप्तता या रहस्यात्मकता का बहुत महत्त्व होता है। गांधी जी गुप्तता को पाप समझते हैं। उनका मत है कि मनुष्य के समस्त कर्मों का साक्षी ईश्वर है। उससे मनुष्य का विचार तक नहीं छिप पाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अपना कोई कर्म छिपाना नहीं चाहिए। जहाँ छिपाव होगा, वहाँ अपवित्रता होगी। गांधी जी के धर्म या उनकी ईश्वरोपासना में अपवित्रता का कोई स्थान नहीं है, इसलिए जादू स्वभावतः इससे दूर हो जाता है।

3. धर्म, रूढ़ि और अन्धविश्वास

गांधी जी का विश्वास है कि संसार के विभिन्न धर्मों को रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की बहुत बड़ी मोटी पर्त ढके हुए है। धर्मों की आत्मा इन्हीं परतों के नीचे सिसक रही है। समय–समय पर प्रत्येक धर्म में ऐसे अविवेकी व्यक्तियों की कमी नहीं रहती है, जो नई रूढ़ियों को जन्म देते रहते हैं। रूढ़ि और अन्धविश्वास विकास के विरोधी हैं, विवेक के शत्रु हैं, सत्य–शोध के बाधक हैं। अच्छी–से–अच्छी विचारधारा, अच्छी–से–अच्छी पद्धति, रूढ़ि और अन्धविश्वास में परिणत हो जाती है, जब उसका उपयोग विवेक–रहित होकर किया जाता है। जहां विवेक–शून्यता का साम्राज्य होगा, वहाँ नैतिकता आदि सद्वृत्तियों का पलायन स्वाभाविक है। वस्तुतः रूढ़ि मानव–मन की ऐसी निरंकुश प्रशासिका होती है, जो हृदयहीन और बुद्धिहीन दोनों होती है, फलतः मानव–व्यक्तित्व का पूर्ण दमन करती है; और जब धर्म पर इसका आधिपत्य होता है, तो यह अपने छद्म रूप में समाज के खण्ड–खण्ड करती है, विध्वंस और विनाश का ताण्डव करती है। प्रगतिशील इस्लाम धर्म ने रूढ़ि की सत्ता स्वीकार की, तो मानव–रक्षक धर्म–भक्षक बन गया'; विश्वबन्धुतावादी ईसाई–धर्म ने रूढ़ि का अधिनायकत्व अंगीकार किया, तो कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट संघर्ष के रूप में धर्म बन्धुहन्ता बना, नैतिकतावादी बौद्ध धर्म जब रूढ़ियों के अनुशासन में आया, तो बज्रयान, तन्त्रयान के रूप में

धर्म घोर अनैतिकता का प्रसारक बना। गांधी धर्म–जिसका नैतिकता आधार है, विवेक संबल है, चरमसत्य लक्ष्य है और प्रेम साधन है–विवेकहीन, ज्योतिहीन और हृदयहीन रूढ़ि को कैसे स्वीकार कर सकता है ? धर्म के क्षेत्र में रूढ़ि या अन्धविश्वास को पाखण्ड की संज्ञा दी जाती है। गांधी जी स्पष्ट रूप में पाखण्ड और अन्धविश्वास के चोर विरोधी हैं, अनीति और असत्य उन्हें किसी दशा में ग्राह्य नहीं है। उन्होंने सभी धर्मों के अन्धविश्वासों और पाखण्डों पर खुल कर प्रहार किया है। वह ईश्वर को ईसा का एकमात्र पुत्र नहीं मानते; धर्म–ग्रन्थों को ईश्वर–रचित नहीं स्वीकार करते; राम, कृष्ण आदि को ऐतिहासिक पुरुष नहीं सिद्ध करते; शास्त्रों के प्रत्येक शब्द में सत्य नहीं आरोपते; मूर्तियों को देवता के रूप में नहीं पूजते; केवल जन्मगत वर्ण–व्यवस्था में विश्वास नहीं रखते; हरिजनों को धर्म–ग्रन्थों के अध्ययन का निषेध नहीं करते; बलि आदि हिंसात्मक और अनैतिक कर्मकाण्डों को प्रश्रय नहीं देते आदि–आदि। उनकी स्वीकृति–अस्वीकृति, अर्चना–वर्जना की कसौटी स्वच्छ बुद्धि और निर्मल आत्मा है। उन्हें कोई रूढ़ि, परम्परा, विश्वास केवल शास्त्र–प्रमाण से व्यवहार्य नहीं है, अपितु उसके लिए 'शुद्ध बुद्धि' के समर्थन की भी आवश्यकता है। एक वाक्य में वह सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट कर देते हैं, ''मैं लकीर का फकीर नहीं हूँ।''

किन्तु, इसका आशय यह भी नहीं है कि गांधी–धर्म प्रत्येक परम्परा का विरोधी है, प्रत्येक प्राचीन रीति–नीति का खण्डक है, प्रत्येक पुरावन प्रणाली का बहिष्कारक है। वह ऐसे अतीतकालीन धर्म–कर्म, ऐतिहासिक धार्मिक विधि–विधान, सनातन शास्त्रानुमोदित आध्यात्मिक क्रियाकलाप का सशक्त समर्थक और सचेष्ट संवर्द्धक भी है, जो सत्य का हनन नहीं करता, नीति का दमन नहीं करता, आत्मा का पतन नहीं करता और बुद्धि का स्खलन नहीं करता। गांधी अन्तरात्मा, स्वानुभूति और विवेक से प्रेरित होकर युग–युगों से चली आने वाली आस्तिकता में अचल श्रद्धा रखते हैं; वृक्ष–पूजा, मूर्ति–पूजा में प्रतीकरूप में निश्चित विश्वास

करते हैं; गौरक्षा को पशुरक्षा का संकेत मानते हैं; कर्मगत वर्णव्यवस्था को श्रम–विभाजन का आधारभूत सिद्धान्त समझते हैं आदि–आदि।

वस्तुतः उनकी धार्मिक–भावना लोक–मंगल के उदात्त तत्त्व–चिन्तन पर संस्थित है। इसमें धार्मिक क्रियाओं के अंगीकरण का भेद–विभेद नहीं किया जाता है, दुराग्रह को आधार नहीं बनाया जाता है–यह तो सत्यानुमोदित और नीतिनिर्देशित प्रणालियों से मानव–सेवा करके अनन्त सत्ता से अधिकतम नैकट्य स्थापित करना चाहती है। फलतः इसमें अन्धविश्वासों का परित्याग और नेत्रोन्मीलन भी होता है ; रूढ़ियों का बहिष्कार और कायाकल्प भी होता है और आवश्कतानुसार नवीन रीतियों का जन्म और पोषण भी होता है–गांधी–धर्म की यह महान् विशेषता है।

4. धर्म और विज्ञान

सामान्यतः, धर्म विज्ञान का विरोधी माना जाता है। गांधी जी धर्म को सर्वोपरि स्थान देते हैं, इसलिए उनका धर्म भी विज्ञान–विरोधी मान लिया जाता है। ऐसा सोचने वालो के लिए गांधी जी के विचारों में प्रमाण भी मिल जाते हैं। गांधी जी प्रारम्भ से ही विज्ञान की अनेक उपलब्धियों की घोर निन्दा करते आए हैं। उन्होंने यन्त्रों, कल–कारखानों, आधुनिक चिकित्सा–पद्धति आदि को सदा घातक घोषित किया। उनके इस प्रकार के विचारों से ही उनकी धार्मिक भावना को विज्ञान–विरोधी स्वीकार किया जाता है। किन्तु ऐसी धारणा बनाना नितान्त अनुचित और भ्रामक है।

वस्तुतः, गांधी जी विज्ञान के अनन्य उपासक हैं, विज्ञान के सूक्ष्म तत्त्वचिन्तक हैं और विज्ञान के अप्रतिम परिष्कारक भी हैं। विद्वान लोग विज्ञान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विज्ञान पर्यवेक्षण और पुनः पर्यवेक्षण की प्रक्रिया के द्वारा विश्व की सदृशताओं (uniformities) की खोज करने की विधि है, जिसके परिणाम अन्ततः नियमों के रूप में व्यक्त किए जाते हैं

और ज्ञान के क्षेत्र में व्यवस्थित और संगठित किए जाते हैं। दूसरे शब्दों में विज्ञान सृष्टि के रहस्यों को समझता है, जो कुछ प्रयोग और प्रमाण सिद्ध सत्य होता है, उसे क्रमबद्ध ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करता है। विशुद्ध वैज्ञानिक वही है, जो विशुद्ध तर्क और प्रत्यक्ष प्रमाण से तथ्य को ही सत्य मानता है। गांधी जी के ज्ञान और धर्म में सत्य–शोध का सर्वोपरि स्थान है–उनके लिए सत्य ही ईश्वर है। अतः गांधी जी के धर्म और विज्ञान के लक्ष्य में पूर्ण समानता है। आलोचकों का कहना है कि यहाँ तक तो दुनिया के समस्त धर्म विज्ञान के सहयोगी हैं ; असहयोग तो उस समय उत्पन्न होता है, जब धर्म और विज्ञान सत्य–शोध के लिए पूर्णतयः पृथक्–पृथक् पद्धतियों का अनुसरण करते हैं–विज्ञान प्रायोगिक पद्धति को ग्रहण करता है, जबकि धर्म केवल आन्तरिक अनुभव–पद्धति पर आधारित है; विज्ञान प्रत्यक्ष–प्रमाण को महत्त्व देता है, और धर्म विश्वास, अन्धविश्वास, रूढ़ि को प्रधानता देता है, इसलिए वह विज्ञान का विरोधी हो जाता है। हमने पिछले पृष्ठों में बताया है कि गांधी जी रूढ़ि और अन्धविश्वास के घोर विरोधी हैं। वह स्पष्ट कहते हैं, ''मैं किसी ऐसे धार्मिक सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, जो बुद्धि को न जंचे और नैतिकता के विरुद्ध हो। मैं प्रत्येक धर्म–ग्रन्थ के बारे में–और गीता उनमें शामिल है–अपनी निर्णायक बुद्धि का उपयोग करता हूँ। मैं किसी धर्म–ग्रन्थ के वचनों को अपनी बुद्धि पर हावी नहीं होने देता।'' अतः, यहाँ पर गांधी का धर्म विज्ञान के साथ कदम–से–कदम मिलाता है। अब प्रश्न उठता है–प्रयोग का। विज्ञान में प्रयोग अपरिहार्य है। क्या गांधी–धर्म प्रयोग–पद्धति को स्वीकार करता है? इसका उत्तर भी पूर्ण सकारात्मक है और इसका प्रमाण है, उनकी आत्म–कथा। गांधी जी ने आत्म–कथा को 'सत्य के प्रयोग' नाम दिया है, और जिन प्रयोगों का उन्होंने उसमें उल्लेख किया है, उन्हें 'आध्यात्मिक प्रयोग' कहा है। उन्होंने धार्मिक–आध्यात्मिक क्षेत्र में अनेक प्रयोग किए और उनसे जो तथ्य या सत्य प्राप्त हुए, उनके सम्बन्ध में एक सच्चे वैज्ञानिक की भांति यह लिखा कि ''जैसे विज्ञान–शास्त्री अपने प्रयोग अत्यन्त नियम, विचार–सहित और सूक्ष्मतापूर्वक करता है, फिर भी उससे उत्पन्न हुए परिणामों को अन्तिम नहीं कहता, अथवा यह नहीं कहता, कि यही सच्चे परिणाम हैं ; इस

सम्बन्ध में जैसे वह तटस्थ रहता है, वैसे ही अपने प्रयोगों के सम्बन्ध में मेरा भी मानना है। मैंने खूब आत्म–निरीक्षण किया है, प्रत्येक भाव को जांचा है, उसका विश्लेषण किया है ; पर उससे पैदा हुए परिणाम सबके लिए अन्तिम ही हैं अथवा यही सही है, ऐसा दावा मैं कभी करना नहीं चाहता।'' वैज्ञानिक विधि प्रयोग, निरीक्षण, परीक्षण और विश्लेषण की प्रक्रिया पर आधारित होती है और गांधी जी का धार्मिक सिद्धान्त भी इसी वैज्ञानिक पद्धति का परिणाम है; यहाँ भी उनका धर्म विज्ञान के समकक्ष संस्थित होता है। प्रत्येक विज्ञान की अपनी–अपनी अनुसन्धान–पद्धति होती है। गांधीधर्म विज्ञान की इस भावना को भी स्वीकार करता है। वह कहते हैं, ''जैसे वैज्ञानिक प्रयोग सफलतापूर्वक करने के लिए अमुक तालीम जरूरी है, ठीक वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयोग करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए कठोर प्रारम्भिक साधना जरूरी है।'' विज्ञान के अन्तर्गत शोधार्थी में वैज्ञानिक प्रवृत्ति (Scientific Attitude) की आवश्यकता बतायी जाती है। वैज्ञानिक प्रवृत्ति के मुख्य रूप से पांच गुण होते हैं– 1. तटस्थता, 2. धैर्य, 3. अध्यवसाय, 4. जिज्ञासा तथा 5. रचनात्मक कल्पना। गांधी जी की धार्मिक अवधारणा में ये पांचो तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। हम पिछले पृष्ठों में बता चुके हैं कि उन्होंने अपने धार्मिक परिप्रेक्ष्य के निर्माण के लिए संसार के प्रमुख धर्मों का सूक्ष्म अनुशीलन तटस्थता, धैर्य, अध्यवसाय, जिज्ञासु–भाव से किया। दक्षिणी अफ्रीका में उन्हें मुसलमान, ईसाई, पारसी, थियोसाफिस्ट तथा हिन्दू धर्म के अनुशीलन का विशेष अवसर मिला। उन्होंने उस अवसर पर सच्ची वैज्ञानिक प्रवृत्ति का परिचय दिया। उन्होंने लिखा है, ''मैं नम्रतापूर्वक, तटस्थ भाव से उनकी शिक्षा को सुन और समझ रहा था। इस निमित्त से मैंने हिन्दू–धर्म का यथाशक्ति अध्ययन किया और दूसरे धर्मों को समझने की कोशिश की।'' इस सम्बन्ध में, जो कुछ उन्होंने स्वयं किया, वही वह प्रत्येक धर्मावलम्बी से करने को कहते हैं। इस सन्दर्भ में एक चपल किन्तु अविवेकपूर्ण प्रश्न यह उठाया जाता है कि वैज्ञानिक प्रयोगशाला यन्त्रों–पदार्थों का प्रयोग करती है, किन्तु गांधी जी के धार्मिक प्रयोगों में इन सबका प्रयोग नहीं होता है? इसका उत्तर यह है कि प्रयोगशाला में प्रयोग करने वाले

रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, प्राणिशास्त्र आदि ही विज्ञान नहीं हैं; प्रयोगशाला न व्यवहार करने वाले राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि सामाजिक शास्त्र भी तो विज्ञान है। इन मानव–विज्ञानों की प्रयोगशालाएं भौतिक विज्ञानों की तरह सीमित नहीं होती हैं; अपितु इनकी प्रयोगशालाएं समाज, राष्ट्र या सम्पूर्ण विश्व हैं। गांधी जी का धर्म ऐसी ही मानवता की प्रयोगशाला का परिणाम है। धर्म की अवैज्ञानिकता के विरुद्ध अन्तिम किन्तु महत्त्वपूर्ण आपत्ति यह उठायी जा सकती है कि अन्य धर्मों की तरह गांधी–धर्म भी ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करता है; किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं कर पाता है, अतः अवैज्ञानिक या विज्ञान–विरोधी है। इस आक्षेप का पहला उत्तर यह है कि ईश्वर पर अविश्वास करना अवैज्ञानिकता नहीं है। आज अनेक व्यक्ति ईश्वर पर आस्था रखने पर भी महान् वैज्ञानिक माने जा रहे हैं। विश्व–विख्यात वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंसटीन तो वैज्ञानिकों से ईश्वरीय शक्ति से परिचित होने के लिए कहते हैं। ''मैं ईश्वर को मानता हूँ। इस संसार की व्यवस्था और सम्पूर्ण सृष्टि की रागात्मक संश्लिष्टता में ईश्वर अपने को व्यक्त करता है। मैं मानता हूँ कि सम्पूर्ण प्रकृति में ईश्वर की चेतना काम कर रही है। विज्ञान के काम की नींव अब इसी तथ्य पर आधारित है कि यह संसार आकस्मिक रूप से यों ही नहीं उत्पन्न हो गया; बल्कि इसमें एक क्रम है, सार्थकता है, जिसे विज्ञान से समझा जा सकता है।'' दूसरा उत्तर यह है कि गांधी जी एक वैज्ञानिक की भांति ईश्वर में विश्वास करने को कहते हैं, अन्धविश्वास करने को नहीं। वह ईश्वर को संसार को संचालित करने वाला नियम मानते हैं, कोई शरीरधारी व्यक्ति नहीं। चूंकि वैज्ञानिक नियम को सत्य कहता है, इसलिए एक वैज्ञानिक की भांति गांधी जी सत्य को ही ईश्वर कहते हैं। वह धर्म का चरम लक्ष्य इसी अटल नियम या चरम सत्य को प्राप्त करना निर्धारित करते हैं। आइंसटीन भी यही कहते हैं।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गांधी–धर्म का विज्ञान की आधारभूत भावना, मूल आत्मा, सत्य–शोध की प्रणाली से, कोई मत–भेद नहीं है, विरोध नहीं है, संघर्ष

नहीं है ; अपितु वह विज्ञान की पद्धति के अनुगमन को श्रेयस्कर समझता है, उसकी मूल भावना के संरक्षण के औचित्य को अंगीकार करता है, उसके साध्य से सादृश्य स्थापित करने में गौरवान्वित होता है और असत्य, भ्रान्त, अविवेकपूर्ण धारणाओं के निराकरण में उसका सहयोगी बनता है।

यहाँ पर पुनः प्रश्न उठता है कि जब गांधी जी का धर्म विज्ञान का सहचर और सहधर्मी है, तो गांधी जी आधुनिक विज्ञान की उपलब्धि, प्रगति और उद्विकास का क्यों विरोध करते हैं? इसका उत्तर है कि गांधी जी आधुनिक विज्ञान को लक्ष्य–भ्रष्ट, कुपथगामी, विवेकशून्य मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान में, उस अनन्त चेतन सत्ता के प्रति समर्पण का भाव होना चाहिए, उसमें असीम विश्वात्मा के अभिन्न अंश सम्पूर्ण मानवता की सेवा और कल्याण का लक्ष्य होना चाहिए, उसमें विराट सत्य के समझने की विनम्र जिज्ञासा होनी चाहिए। आधुनिक विज्ञान इस परिप्रेक्ष्य से पराङ्मुखी है ; इसलिए यह प्रवृत्ति अग्राह्य है, त्याज्य है, उपेक्षणीय है, निषिद्ध है।

गांधी जी के विचार से आज का विज्ञान स्वार्थ और लोभ की भावना से प्रेरित है, प्रतिद्विन्द्विता और प्रतिस्पर्धा से परिचालित है। अतः, उससे समाज का कल्याण नहीं, अहित हुआ; निर्माण नहीं, विनाश हुआ; उत्थान नहीं, पतन हुआ है। वह कहते हैं, ''हम अपनी प्रगति का कितना भी घमण्ड क्यों न करें, मुझे बार–बार यह पूछने का लोभ होता है : ''इससे लाभ क्या हुआ?'' डार्विन के एक समकालीन वालेस ने भी यही बात कही है। उसने कहा है कि पचास बरस के चमत्कारी आविष्कारों और अनुसन्धानों ने मानव–जाति की नैतिक ऊँचाई में तिल भर वृद्धि नहीं की।'' यन्त्रों के आविष्कार ने मनुष्यों की बुद्धि को कुण्ठित किया है, मानवीय कला–कौशल का लोप किया है, पूंजीवाद की वृद्धि की है, बेकारी को बढ़ावा दिया है, सामाजिक मूल्यों की अवहेलना की है। अणु–शक्ति के विकास ने सम्पूर्ण मानवता के विनाश का शस्त्र दिया है; मानसिक तनाव और भय की सृष्टि की है। आधुनिक चिकित्सा–पद्धति ने चिकित्सकों को लोभी और स्वार्थी बनाया है और जनता को आरोग्य के आधारभूत सिद्धान्तों

को विस्मृत करने का अवसर दिया है। आज के विज्ञान–दर्शन ने धर्म और नैतिकता की उपेक्षा करके मनुष्य की आत्मा को पतनोन्मुख किया है, उसकी पशुवृत्तियों को जाग्रत किया है, उसमें मानसिक कुण्ठाओं का बीजारोपण किया है। सम्पूर्ण रूप से आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य की उदात्त और ऊर्ध्वमुखी प्रवृत्तियों का दमन किया है, जीवन के शाश्वत सत्य, सुख, शान्ति से विमुख किया है; और इसके विपरीत ऐन्द्रिकता तथा भोगलिप्सा के लिए सतत् उद्विग्न किया है; जो मनुष्य का यथार्थ लक्ष्य नहीं है। गांधी जी का धर्म विज्ञान की इसी दुष्प्रवृत्ति का विरोधी है। वह विज्ञान का और वैज्ञानिक आविष्कारों का पूर्ण समर्थक है, यदि विज्ञान नीति और धर्म पर आधारित होकर समस्त मनुष्यों की ही नहीं, अपितु समस्त प्राणि–जगत की सच्चे भाव और सच्चे रूप से सेवा करने का प्रयत्न करे, तथा सबके कल्याण और सबके हित की व्यवस्था करे, न कि कुछ लोगों की स्वार्थ–सिद्धि करें। संक्षेप में गांधी जी पूर्ण मानवतावादी, अहिंसक और परार्थवादी विज्ञान के समर्थक हैं। पिटरिम सोरोकिन ने इसी मत का समर्थन किया है, ''नैतिक और सामाजिक दृष्टि से उत्तरदायी विज्ञान, जो जगन्नियन्ता ईश्वर की सेवा में लगा हो, शान्ति प्रदान कर सकता है।'' बरट्रेण्ड रसेल भी यही अनुभव करते हैं, ''संसार की वर्तमान स्थिति और अणु–युद्ध की सम्भावना यह सिद्ध करती है कि वैज्ञानिक प्रगति बिना किसी तत्सम्बन्धी धर्माचरण तथा राजनैतिक प्रगति के शायद उस महाकाल की विभीषिका को और भी प्रज्ज्वलित कर दे।'' विश्व के अन्य अधिकांश विचारक भी गांधी जी से सहमत हैं कि विज्ञान सुसंस्कृत होकर धार्मिक बने और धर्म परिष्कृत होकर वैज्ञानिक बने; विज्ञान पशुवृत्ति से मुक्त हो और धर्म विवेक से युक्त हो; विज्ञान सुपन्थ पर चले और धर्म अन्धकूप से निकले और विज्ञान धर्म से समन्वय करे तथा धर्म विज्ञान से सामञ्जस्य करे।

7

गांधी : धर्म और संस्कृति

1. प्रारम्भिक

मानव–संस्कृति के विभिन्न अंगों में धर्म का स्थान अप्रतिम और अपरिहार्य है। यह सृष्टि के आदिकाल से मानवीय आचरण और व्यवहार का संगी रहा है, और अनेक कठोर आघातों और विरोधों के बाद आज भी न्यूनाधिक परिवर्तनों और संशोधनों के साथ अधिकांशतः मनुष्य–मन पर शासन कर रहा है।

यदि हम धर्म की प्रक्रिया का सूक्ष्म अध्ययन करें, तो ज्ञात होता है कि वह मानव व्यक्तित्व और संस्कृति के निर्धारण में अमित योगदान करता है। विश्व की महान् संस्कृतियों और विभूतियों के निर्माण में धर्म बहुत बड़ी प्रेरक शक्ति के रूप में क्रियाशील रहा है। धर्मों के उत्थान के साथ संस्कृतियां उन्नत हुई हैं और धर्मों के पतन के साथ संस्कृतियों का पतन हुआ है। गांधी जी का यही मत है कि व्यक्ति हो या परिवार, समाज हो या राष्ट्र–सभी शुद्ध धर्म और नीति के अनुसरण से ही वास्तविक प्रगति कर सकते हैं। जो अनीति और अधर्म को स्वीकार करता है, वह अशान्ति और दुःख के गर्त में गिरता है। ''जैसे भयानक बवण्डर अन्त में उड़ जाता है, वैसे ही अनीतिमान पुरुष का भी नाश होता है। असीरिया और बेबीलोन में अनीति का घड़ा भरा नहीं कि तत्काल फूट गया। रोम ने जब अनीति का रास्ता पकड़ा तब उसके महान् पुरुष उसका बचाव न कर सके। ग्रीस की जनता बुद्धिमान थी, पर उसकी बुद्धिमानी अनीति को टिका न सकी। फ्रांस में विप्लव हुआ, वह भी अनीति के ही विरोध में। नीति के इस अद्भुत नियम का जो मनुष्य पालन करता है, वह ऊपर उठता है, जो कुटुम्ब–पालन करता है, वह बना रह सकता है, और जिस समाज में उसका पालन होता है, उसकी वृद्धि होती है। जो प्रजा इस उत्तम नियम का पालन करती है, वह सुख, स्वतन्त्रता

और शान्ति भोगती है।'' पिछले पृष्ठों में बताया जा चुका है कि गांधी जी नीति–प्रधान धर्म और धर्म–प्रधान नीति में विश्वास करते हैं।

प्रस्तुत अध्याय में गांधी जी के उपर्युक्त विचार–सूत्र का संस्कृति और धर्म के संदर्भ में विश्लेषण करेंगे।

2. संस्कृति क्या है ?

संस्कृति की अनेक परिभाषाएं और व्याख्याएं की गई हैं। यहाँ पर हमें उनके खण्डन–मण्डन में नहीं पड़ता है। यहाँ पर हम केवल अपने विषय–विवेचन के लिए संस्कृति की आधारभूत व्याख्या करेंगे।

संसार में दो प्रकार की सृष्टि है–1. प्राकृतिक और 2. मनुष्यकृत। धरती, जल, वायु, फूल, वृक्ष, जीव आदि प्राकृतिक हैं, और घर, मोटर, रेल, पंखा, बर्तन, वस्त्र, ज्ञान–विज्ञान, कला, साहित्य, दर्शन आदि सब मनुष्यकृत हैं। मनुष्याकृत सृष्टि के दो भेद हैं–1. भौतिक और 2. अभौतिक। भौतिक में मूर्त या स्पर्श योग्य वस्तुएं आती हैं और अभौतिक में अमूर्त तत्त्व आते हैं। आचरण, व्यवहार, रीति–रिवाज, परम्परा, कला, साहित्य आदि मानवीय सृष्टि के अमूर्त तत्त्व हैं। मूर्त या भौतिक सृष्टि सभ्यता है, और भौतिक या अमूर्त सृष्टि संस्कृति है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संस्कृति वह मिश्रित किन्तु पूर्ण व्यवस्था है, जिसमें वे सभी ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता के सिद्धान्त, विधि–विधान तथा ऐसी अन्य सभी योग्यताएं सम्मिलित हैं, जिन्हें व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। इसे हम संक्षेप में भी कह सकते हैं कि जीवन की कला या प्रणाली ही संस्कृति है।

गांधी जी ने संस्कृति शब्द का प्रयोग करके कोई परिभाषा नहीं की है : किन्तु उन्होंने अपने सम्पूर्ण साहित्य में इस विषय का विशद विवेचन किया है कि मनुष्य समाज के सदस्य के रूप में किस प्रकार जीवनयापन करे।

मानव–जीवन–प्रणाली एकपक्षीय या एकांगी नहीं है। यह बहुमुखी या अनेकपक्षीय है। व्यक्ति एक साथ पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, कलात्मक, नैतिक प्राणी है। इन विभिन्न क्षेत्रों में अनुकूलन करने के लिए जिन उपयुक्त प्रणालियों का विकास किया गया है, संस्कृति उनका एक संश्लिष्ट निकाय है। गांधी जी ने जीवन के विभिन्न पक्षों या क्षेत्रों की इन प्रणालियों पर विचार किया। इस प्रकार उन्होंने संस्कृति के नाम पर कोई शास्त्रीय परिभाषा तो नहीं प्रस्तुत की है ; किन्तु संस्कृति के विभिन्न पक्षों की व्याख्याएं अवश्य प्रस्तुत की हैं।

विद्वानों ने संस्कृति की दो प्रकार की व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं– 1. आदर्श संस्कृति प्रतिमान (Ideal culture Pattern) तथा 2. व्यावहारिक संस्कृति प्रतिमान (Behavioural culture Pattern)। आदर्श संस्कृति के स्वरूप में यह निरूपण किया जाता है कि किसी विशेष समाज के व्यक्तियों, किसी विशेष परिस्थिति में किस प्रकार के मूल्यों को स्वीकार करना चाहिए तथा किस प्रकार का आचरण करना चाहिए; और व्यावहारिक या आचरणात्मक संस्कृति में यह विश्लेषण किया जाता है कि किसी काल में किसी विशेष समाज के लोगों ने किस प्रकार के मूल्यों को स्वीकार किया है तथा कैसा आचरण किया है या कर रहे हैं। गांधी जी ने संस्कृति के इन दोनों स्वरूपों का विवेचन किया है ? किन्तु उनका मुख्य लक्ष्य आदर्श संस्कृति का स्वरूप निश्चित करना रहा है। इसका मुख्य कारण यह था कि वह समकालीन आचरणात्मक या व्यावहारिक संस्कृति को मानवता के हित में उपयुक्त नहीं समझते थे। इसलिए इस युग की संस्कृति के विभिन्न पक्षों का वर्णन वहीं तक किया, जहां तक इसके दोषों और दुर्बलताओं को व्यक्त करने की आवश्यकता पड़ी है। इसके बाद उन्होंने सर्जनात्मक या आदर्श संस्कृति की प्रतिष्ठा के लिए ही प्रयत्न किया है।

3. धार्मिक संस्कृति और सांस्कृतिक धर्म

गांधी जी ने आदर्श सांस्कृतिक प्रतिमानों की जो रूप–रेखा प्रस्तुत की है, उसकी मूल भावना या आत्मा धार्मिक–आध्यात्मिक कही जा सकती है। वह चाहते हैं कि व्यक्ति का प्रत्येक कर्म, समाज का प्रत्येक पक्ष, राज्य का प्रत्येक आदेश सच्चे धर्म और सच्ची नीति पर आधारित हो, तथा कला, विज्ञान एवं दर्शन भी धर्मानुप्राणित हों। उनका धर्म किसी सम्प्रदाय या वाद से सीमित नहीं है। वह तो सत्य–अहिंसा और मानव–सेवा के चारो ओर केन्द्रित है। धर्म के ये सार्वभौमिक और शाश्वत तत्त्व मनुष्य के प्रत्येक आचरण का निर्देशन करें। इसीलिए वह कहते हैं, ''जो धर्म व्यावहारिक वह धर्म नहीं है। आज मानव–प्रवृत्तियों का सारा सप्तक एक अविभाज्य वस्तु है। आप सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और विशुद्ध धार्मिक काम के अलग–अलग खाने नहीं बना सकते। मुझे मानव–सेवा से भिन्न कोई धर्म मालूम नहीं है।''

मानव–सेवा के अनेक पक्ष हैं। ज्ञान, विज्ञान, कला, दर्शन, साहित्य, औद्योगिकी, राजनीति, अर्थनीति आदि सब संस्कृति के अंग हैं। समाज ने इनकी सृष्टि मूलतः मनुष्य को सुख–शान्ति प्रदान करने के लिए की थी। किन्तु, मनुष्य की स्वार्थ–प्रवृत्ति ने इन सबका दुरुपयोग किया। फलतः, ज्ञान अज्ञान की ओर मुड़ रहा है; विज्ञान विनाश का आवरण डाल रहा है; साहित्य–कला असत्य–अशिव–असुन्दर के प्रतीक बन रहे हैं; राजनीति छल–छद्म का पर्याय हो गई है, अर्थ–नीति शोषण और विषमता को साध्य मान बैठी है, दर्शन ऐन्द्रिक सुखों का परम सत्य स्वीकार रहे है। संक्षेप में, संस्कृति या जीवन का मूल भाव ऐन्द्रिक सुख या भोग हो गया है। फलतः, सम्पूर्ण मानव–समाज अतृप्त आकांक्षाओं से पीड़ित है, अशान्ति और अव्यवस्था से संत्रस्त है, युद्ध और विनाश से भयभीत है! यह स्थिति हमारे जीवन के मूल्यों या सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास के कारण उत्पन्न हुई है। गांधी जी का मत है कि यह ह्रास ईश्वर और धर्म की उपेक्षा के कारण हुआ है। वह त्याग में सच्चे सुख को अनुभव करते हैं, भोग में नहीं। जो सांस्कृतिक मूल्य समाज को त्याग के लिए प्रेरित करेंगे, वही उनकी दृष्टि से श्रेय

और प्रेय हैं। उन्होंने लिखा है, ''सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटना है। परिग्रह घटाने से सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता जाता है।'' भोगवादी संस्कृति के प्रसारक योरोपीय देशों के सम्बन्ध में कहा था, ''समय आ रहा है, जब लोग, जो भ्रमवश यह समझ कर कि वे संसार के वास्तविक ज्ञान में वृद्धि कर रहे हैं, अपनी जरूरतें दुगुनी–चौगुनी बढ़ाने की दौड़ में पागल हुए हैं, वापिस लौटेंगे और कहेंगे : हाँ! हमने यह क्या किया?''

गांधी जी मानवता की प्रगति के लिए ईश्वर और धर्म में आस्था रखना अपरिहार्य समझते हैं। धर्म–पालन के लिए पांच बातें अनिवार्य मानते हैं– सत्य, अहिंसा या प्रेम, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह। ये प्राकृतिक या ईश्वरीय नियम हैं, मानव–जीवन के शाश्वत और सार्वभौमिक मूल्य हैं। संस्कृति के विभिन्न प्रतिमान इन्हीं मूल्यों पर आधारित होने चाहिए अर्थात् समाज का संगठन, राजनीति का निर्देशन, अर्थनीति का संचालन, कला–साहित्य–विज्ञान–दर्शन का निरूपण उक्त मूल्यों द्वारा ही होना चाहिए। इन मूल्यों की जो व्याख्याएं उन्होंने की हैं, उनसे निष्कर्ष निकलता है कि वह ऐसी संस्कृति की प्रतिष्ठा चाहते हैं, जिसमें अल्पसंख्यक लोगों या केवल अधिकतम लोगों के कल्याण का भाव न हो, अपितु समस्त मनुष्यों को उस विराट् ईश्वर का अंश मान कर सबके सुख और शान्ति की व्यवस्था हो। उन्हीं की पारिभाषिक शब्दावली में हम कह सकते हैं कि गांधी जी सर्वोदय संस्कृति का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। यह संस्कृति आत्म–केन्द्रित या स्वार्थवादी न होकर परार्थवादी होगी, स्वच्छन्दतावादी या निरंकुश न होकर ईश्वरीय नियमों के अधीन होगी, तथा पतनोन्मुखी और विनाशकारी न होकर रचनात्मक और कल्याणकारी होगी।

गांधी जी की संस्कृति–सम्बन्धी उक्त विचारधारा को पढ़ कर उन्हें लोग अव्यावहारिक और कल्पनावादी कहेंगे। बहुत लोगों की समझ में नहीं आएगा कि इस वैरागी संस्कृति की क्या आवश्यकता है? किन्तु यदि ऐसे लोग पाश्चात्य देशों की सामाजिक–सांस्कृतिक अवस्था

का अध्ययन करें और वहाँ के उच्च कोटि के प्रबुद्ध विचारकों और समाजशास्त्रियों के विचारों का अनुशीलन करें, तो उन्हें ज्ञात होगा कि पाश्चात्य संस्कृति, जिसे पूर्वीय लोग भी आदर्श मान बैठे हैं, आज व्याधिग्रस्त है, निष्प्राण है। वहां वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक विघटन चरम सीमा पर पहुँच चुके हैं। मानसिक विकृतियां, रोग, आन्तरिक संघर्ष जीवन को आच्छादित किए हुए हैं। विज्ञान की प्रगति और औद्योगिक उन्नति ने मनुष्य का यन्त्रीकरण किया है, और उसकी चेतना और आत्मा को विकृत किया है। विश्वविख्यात् महान् समाजशास्त्री डा0 पिटरिम सोरेकिन ने इसके सम्बन्ध में लिखा है, ''हमारी मृतप्राय संस्कृति में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या और विरोध के कीड़े बजबजा रहे हैं, जिनके कारण असीम युद्धों, क्रान्तियों तथा अन्य रक्तसंघर्षों की ही पग–पग पर सम्भावना है।'' सोरोकिन इस समकालीन संस्कृति को स्वार्थवादी या ऐन्द्रिक संस्कृति कहता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि यह मानवता के लिए विनाशकारी है। यदि मानवता की रक्षा करनी है, सुख, शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करनी है, तो हमें परार्थवादी या कल्पनाशील संस्कृति की प्रतिष्ठा करनी होगी। इस भावी ''नयी संस्कृति की मूल भावना यह है कि सच्चा वास्तविक मूल्य वह बहुमुखी अनन्त सत्ता है, जिसमें ऐन्द्रिय, युक्तिमूलक तथा उत्तर ऐन्द्रिय, और उत्तर युक्तिमूलक पहलू भी शामिल हैं। उसमें भौतिक मूल्यों का स्थान ऊँचा न होकर अत्यन्त नगण्य और सीमित होता है। मानवीय भावनाओं का एक बड़ा अंश ईश्वरीय साम्राज्य के सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के शाश्वत मूल्यों की दिशा में मोड़ा जा सकता है। इन मूल्यों की प्रकृति अवैयक्तिक और सार्वत्रिक है, परार्थवादी और उत्कृष्ट है।''

ऐसे विचारकों में डा0 सोरोकिन अकेले नहीं हैं। अन्य अधिकांश विचारक भी यही मत प्रतिपादित करते हैं। संस्कृतिशास्त्र के महान् पण्डित आर्नोल्ड टायनबी पाश्चात्य संस्कृति के पतन को स्वीकार करते हैं और ''यहूदी परम्परा पर आश्रित ईसाई धर्म को वे विश्व की आशा का केन्द्र नहीं समझते, बल्कि भारतीय समन्वय पर आधारित हिन्दू और बौद्ध धर्मों में मानव–समृद्धि और परित्राण की सम्भावना का दर्शन करते हैं।'' मानवशास्त्र और संस्कृति के

विद्वान एलफ्रेड ए0 क्रोएबर का विचार है कि पाश्चात्य संस्कृति का सन् 1900 के आस–पास से पतन प्रारम्भ हो गया। इसका मुख्य कारण यह है कि विज्ञान और कला ने धर्म से बिल्कुल सम्बन्ध–विच्छेद कर लिया। जर्मन दार्शनिक अलबर्ट स्विट्जर संस्कृति का यथार्थ आधार नैतिकता मानते हैं। उनका मत है कि जब संस्कृति में नैतिक मूल्यों का ह्रास होने लगता है, तो संस्कृति पतनोन्मुखी हो जाती है ; चूँकि पाश्चात्य संस्कृति नैतिक शून्यवाद, भौतिकता और यान्त्रिकता का चरम विकास कर चुकी है, इसीलिए उसका द्रुतगति से पतन हो रहा है। यदि मानवता का पुनर्निर्माण करना है, तो सांस्कृतिक मूल्यों को जीवन–चेतना और आस्था पर आधारित करना होगा। वह कहता है, ''जीवन के प्रति प्रेम और आस्था का अर्थ यह है कि मनुष्य उस असीम, अज्ञेय, अग्रगामी इच्छाशक्ति के क्रोड़ में प्रवेश करें जिस पर समस्त अस्तित्व स्थित है। यह वस्तुविज्ञान से परे है। यह उस परम तत्त्व की ओर ले जाता है, जिसके असीम रूप विश्व में व्याप्त हैं।'' अंग्रेज दार्शनिक बेंजामिन किड ने अपनी पुस्तक 'सोशल इवलूशन' में धर्म और परमार्थ को सामाजिक विकास का आधार माना है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री इमाइल डुरखीम समाज का संगठन आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के आधार पर करने के पक्ष में है। योगिराज श्री अरविन्द संस्कृति और समाज में धर्म और आध्यात्मिकता को सर्वोपरि स्थान देते हैं। वह कहते हैं–''धर्म अगर जीवन में सजीव रूप से चरितार्थ न किया जाए तो वह किसी काम का नहीं है। उसे केवल जीवन में ही नही, अपितु जीवन के सभी अंगों में चरितार्थ करना होगा, इसकी आत्मा को हमारे समाज, हमारी राजनीति हमारे साहित्य, हमारे भौतिक विज्ञान, हमारे वैयक्तिक चरित्र, प्रवृत्तियों और अभीप्साओं में प्रविष्ट होना है और उनका पुनर्निर्माण करना होगा।'' मूर्धन्य तत्व–चिन्तक डा0 राधाकृष्णन ने इसी आशय के विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, ''आज के संकट–काल में आवश्यक है कि समस्त विश्व की आध्यात्मिक शक्तियां आपस में मिल जाएं और महान धार्मिक परम्पराएं अपनी रूपगत भिन्नताओं को भूलकर अपनी आधारभूत एकता समझें और उसी में भौतिक पूर्व निश्चयवाद का विरोध करने की शक्ति ग्रहण

करें। जिस धर्म की रूपरेखा यहां प्रस्तुत है, वह वैज्ञानिक, प्रयोगसिद्ध और मानवतावादी धर्म है। इसी से मानव ओर उसकी आत्मा का विकास हो सकता है।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार के प्रमुख विचारक और समाजशास्त्री गांधी ही की ही भांति समकालीन सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन चाहते हैं। इन सबका विश्वास है कि यदि मानव–जीवन के मूल्यों में धर्म और अध्यात्म का प्रवेश न होगा, तो मानवता इस मृतप्राय संस्कृति से निष्प्राण, निस्तेज, निस्पन्द हो जाएगी। यदि संस्कृति का नवनिर्माण करना है, और मनुष्यों के रचनात्मक या सर्जनात्मक तत्त्व को प्रदीप्त करना है, तो हमें संस्कृति की पुनर्रचना करनी होगी।

गांधी जी केवल धार्मिक संस्कृति के पक्ष–पोषक ही नहीं हैं, अपितु वह सांस्कृतिक धर्म की भी प्रतिष्ठा चाहते हैं। जब कहते हैं कि जो धर्म जीवन की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में सहायता नहीं करता है, वह धर्म नहीं है, तब वह धर्म को वैयक्तिक मोक्ष का साधनमात्र नहीं मानते हैं, अपितु उसे वह मानव–सेवा की कला के रूप में स्वीकार करते हैं, एक समग्र जीवन–पद्धति के रूप में ग्रहण करते हैं। संस्कृति एक संश्लिष्ट जीवन–पद्धति और समाज–कल्याण की प्रयोगसिद्ध प्रणाली ही तो होती है! जब गांधी धर्म का लक्ष्य मानव–सेवा निर्धारित करते हैं, तो उसमें कला, साहित्य, नीति आदि के माध्यम से होने वाली मानव–सेवा के विभिन्न रूपों अर्थात् संस्कृति के विभिन्न अंगों का सहज ही समावेश हो जाता है। वस्तुतः ऐसा धर्म संस्कृति का एक विकल्प हो जाता है अथवा यों कहें कि धर्म का सांस्कृतीकरण या सामाजीकरण हो जाता है।

गांधी : धर्म और राजनीति

1. प्रारम्भिक

राज्य और धर्म समाज की दो महत्त्वपूर्ण संस्थाएं हैं। अति प्राचीनकाल से ये दोनों मानव–मन पर शासन करती आ रही हैं। कभी ये दोनों समानान्तर क्रियाशील रहीं, कभी राज्य धर्म के अधीन रहा ; कभी धर्म राज्य के निर्देशन में चला ; कभी दोनों में सत्ता के लिए संघर्ष हुआ और आज राज्य धर्म से स्वच्छन्द हो गया है। प्राचीन भारत में राजदर्शन का विवेचन अधिकांशतः धर्मशास्त्रों में ही मिलता है।

डा0 के0 पी0 जायसवाल ने लिखा है कि प्राचीन हिन्दू राजतन्त्र में धर्मशास्त्रों का सर्वोपरि स्थान था। धर्म राजा से भी उच्च और सब राजाओं का राजा था। कौटिल्य जैसे व्यावहारिक राजनीतिज्ञ ने भी राजा को धर्म के अधीन ही रखा था।[1] योरोप में भी प्राचीनकाल में राजदर्शन को धर्म पर आधारित किया गया था; किन्तु मध्ययुग में धर्म ने राज्य पर इतना कठोर नियन्त्रण किया कि राज्य छटपटाने लगा और अन्ततः उसने धर्म के पंजे से छूटने के लिए विद्रोह किया और दोनों में संघर्ष हुआ। कभी पोप ने कहा, ''इस संसार का शासन करने वाली दो सत्ताएं हैं– धर्माधिकारियों की पुनीत सत्ता और राजकीय सत्ता। इन दोनों सत्ताओं में धर्म सत्ता गुरुतर है, क्योंकि कयामत के दिन ईश्वर के सम्मुख राजा के कृत्यों का उत्तर धर्म पुरोहितों को ही देना होगा।''[2] इस पर राज्य ने 'न्यू टेस्टामेण्ट' के तर्कों का सहारा लेकर यह घोषित किया कि राजसत्ता ईश्वर प्रदत्त शक्ति है; जो भी उसका विरोध करता है, वह ईश्वर की आज्ञा का विरोध करता है। कभी राजा को पोप की सत्ता स्वीकार करनी पड़ी ओर कभी

---

1. डा0 काशीप्रसाद जायसवाल– हिन्दूराज – तन्त्र, पृ0 300
2. डब्लू0ए0 डनिंग – पलिटिकल थ्योरीज, भाग 1, पृ0 166 से उद्धृत

पोप को राज्य के अधीन होना पड़ा। यह संघर्ष करीब एक हजार वर्षों चला और अन्त में मध्य युग की समाप्ति के साथ राज्यसत्ता की परमोच्चता प्रतिष्ठित हो गई।

राज्य को धर्मनिरपेक्ष बनाने में 15वीं शताब्दी के इटली के राजनीतिक विचारक मैकियाविली का बहुत बड़ा योग है। उसने अपनी 'प्रिंस' नाम पुस्तक में यह प्रतिपादित किया कि राजनीतिक सफलता के लिए नीति और धर्म को राजनीति से पूर्णतयः पृथक् रखना चाहिए। धर्म और नैतिकता वैयक्तिक हैं, इनका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। राजनीति में नैतिक और उचित वही है, जिससे राज्य का हित हो–पड़ोसी राज्य को हड़प करना, राज्य हित के लिए धोखा देना, हत्या करना, वचन न पालन करना आदि राजनीति के अन्तर्गत अनैतिक और अनुचित नहीं हैं। संक्षेप में, मैकियाविली ने कुटिल राजनीति का समर्थन किया। यद्यपि मैकियाविली के इन अधार्मिक और अनैतिक राजनीतिक विचारों का प्रबल विरोध हुआ ; किन्तु बाद में प्रकारान्तर से विश्व के अधिकांश राष्ट्रों ने उसी की पद्धति का अनुसरण किया। यह कहना अनुचित न होगा कि आज विश्व–राजनीति में मैकियाविलीय प्रवृत्ति का ही प्राधान्य है, अर्थात्, आज धर्म–रहित राजनीति का साम्राज्य है, छल–छद्म–युक्त राजनीति की प्रमुखता है, नीति–निरपेक्ष राजनीति का बोलबाला है। इसीलिए मैकियाविली को आधुनिक राजनीति का जनक कहा जाता है।[1]

मध्युगीन 'तथाकथित धर्म' ने राजनीति पर नियन्त्रण करके समाज का बहुत अहित किया था, फलतः जनता और विचारकों ने धर्म–निरपेक्ष राजनीति का समर्थन किया था ; किन्तु धर्म–निरपेक्ष होकर राजनीति पूर्ण स्वच्छन्द और कुपथगामिनी हो गई, धूर्तता का पर्याय बन गई, मानवता के विनाश का एक कारण हो गई। आधुनिक राजनीति का ही फल है कि आज सम्पूर्ण विश्व का भविष्य अन्धकारमय है।

---

1. डनिंग – पालिटिकल थ्योरीज, पृ0 285

महात्मा गांधी का उद्भव इसी मैकियाविलीय राजनीति के युग में हुआ। नोवल–पुरस्कार विजेता सुप्रसिद्ध फ्रेंच लेखक रोम्यांरोलां के शब्दों में ''योरोप की दृष्टि में उनका उदय उस समय हुआ, जब ऐसा उदाहरण लगभग आश्चर्य लगता था। यूरोप चार वर्षों के उस भीषण युद्ध से निकल ही पाया था, जिसके फलस्वरूप सर्वनाश, भग्नावशेष और पारस्परिक कटुता के चिह्न अभी विद्यमान थे और, और भी अधिक नृशंस नए–नए युद्धों के बीच बोए जा रहे थे। साथ–ही–साथ क्रान्तियां हो रही थीं और समाजगत पारस्परिक घृणा की श्रृंखला राष्ट्रों का हृदय नो–नोच कर खा रही थी। योरोप ऐसी दुर्भर रात्रि के नीचे दबा कराह रहा था, जिसके गर्भ में थी निराशा और निःसहाय अवस्था। और प्रकाश की एक भी रेखा दृष्टिगत नहीं हो रही थी।''[1] भारतवर्ष भी ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग होने के कारण इस राजनीतिक दुष्प्रवृत्ति से मुक्त नहीं था।

गांधी जी मूलतः धार्मिक और आध्यात्मिक व्यक्ति थे। उनका धर्म मानवतावादी था। वह अपने देशवासियों का उद्धार करना चाहते थे, जिसके लिए सबसे पहली आवश्यकता थी राजनीतिक स्वतन्त्रता। राजनीतिक स्वतन्त्रता कहने–सुनने या प्रार्थना–पत्र देने से नहीं प्राप्त हो सकती थी, अपितु इसके लिए साम्राज्यवादी ब्रिटिश सत्ता के साथ संघर्ष करने की आवश्यकता थी, राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने की आवश्यकता थी। गांधी जी ने राजनीति के प्रचलित स्वरूप को देख–समझ कर अनुभव किया था कि कुटिल राजनीति मानवता के लिए किसी भी दशा में उचित नहीं है। वह राज्य और राजनीति को मानव–कल्याण का साधन मानते थे। साधन के सम्बन्ध में उनके दृढ़ विचार थे, ''जैसे साधन होंगे, वैसा ही साध्य होगा।'' यदि साधन पवित्र, सात्विक और शुद्ध होगे, तो लक्ष्य की सिद्धि भी समुचित होगी। फलतः उन्होंने राजनीति के तत्कालीन मूल्यों को अस्वीकार किया और राजनीति में शुद्ध धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए पूर्ण प्रयत्न किया।

---

1. डा0 राधाकृष्णन (सं०) – गांधी–अभिनन्दन ग्रंथ, पृ0 243

2. धर्म और राजनीति की अभिन्नता

हम पिछले पृष्ठों में लिख चुके हैं कि गांधी जी का धर्म सम्प्रदाय, मत या वाद का पर्याय नहीं है, अपितु यह सार्वभौमिक और शाश्वत नैतिक मूल्यों का समुच्चय है, सत्य और प्रेम पर आधारित है। इसके अतिरिक्त उनकी मान्यता है कि धर्म समाज का अभिन्न अंग है ; समाज के प्रत्येक पक्ष से सम्बन्धित है, धर्म के बिना मनुष्य और समाज जी नहीं सकते हैं। ''मानव प्रवृत्तियों का सारा सप्तक एक अविभाज्य वस्तु है। आप सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और विशुद्ध धार्मिक काम के अलग–अलग खाने नहीं बना सकते।''[1] अतः राजनीति को धर्म से पृथक् नहीं किया जा सकता, अथवा धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता।'' उन्होंने स्पष्ट घोषित किया, ''मेरे लिए धर्म–विहीन राजनीति कोई चीज नहीं है। धर्म के मानी वहमों ओर गतानुगतिकत्व का धर्म नहीं है, द्वेष करने वाला और लड़ने वाला धर्म नहीं है, बल्कि विश्वव्यापी सहिष्णुता का धर्म है। नीतिशून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।'' उन्होंने यहां तक कहा, ''राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। धर्म से शून्य राजनीति मृत्यु का एक जाल है; क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।''[2]

जब संसार में कुटिल राजनीति का सैकड़ों वर्षों से साम्राज्य चला आ रहा था, तो गांधी जी का इस प्रकार का मत विचित्र या अस्वाभाविक–सा था। फलतः अनेक भारतवासियों ने ही उनके मत का खण्डन किया। उग्र नीति के समर्थक श्री तिलक जी ने कहा कि राजनीति साधुओं का खेल नहीं है। इसका गांधी जी ने उत्तर दिया कि 'राजनीति साधुओं का और केवल साधुओं का काम है।' साधुओं से उनका आशय अच्छे व्यक्तियों से है। विश्व कवि रवीन्द्र नाथ टैगोर ने भी गांधी जी के मत से असहमत होते हुए कहा था, ''धर्म की इस महान् निधि को राजनीति की इस कमजोर नौका में, जो दलबन्दी की क्रुद्ध लहरों से टकराती रहती है, मत रखो।'' गांधी जी ने इसका भी उत्तर दिया था कि बिना धर्म के राजनीति एक मुर्दा है,

---

1. हरिजन – 24, 12, 38, पृ0 393
2. सी0एफ0 एण्ड्रूज – महात्मा गांधी–हिज ओन स्टोरी, पृ0 353–4

जिसका सिवा जला देने के और कोई उपयोग नहीं हो सकता है।[1] गांधी जी के सुयोग्य राजनीतिक उत्तराधिकारी पं0 जवाहरलाल नेहरू भी प्रारम्भ में गांधी जी के राजनीति और धर्म के मिश्रण को उपयुक्त नहीं समझते थे, कभी–कभी स्वभाव के अनुसार खीज उठते थे ; किन्तु बाद में वह गांधी जी के मत के समर्थक और प्रचारक बने। उन्होंने लिखा कि गांधी जी सदा राष्ट्रीय आन्दोलन के धार्मिक और आध्यात्मिक पक्ष पर जोर दिया करते थे, जिसका सारे आन्दोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा और जहाँ तक जनता का प्रश्न है, उसने एक सजीव आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।[2] उन्होंने आगे लिखा कि राजनीति के आध्यात्मीकरण का विचार बहुत सुन्दर प्रतीत हुआ।[3] डा0 राधाकृष्णन् ने गांधी जी के विचार का समर्थन करते हुए लिखा है कि राजनीतिक क्षेत्र में मनुष्य को अधिक सफलता नहीं प्राप्त हुई है, इसका मुख्य कारण यह है कि उसने राजनीति से धर्म को पृथक् रखा।

3. धार्मिक राजनीति और धर्मनिरपेक्ष राज्य

जब गांधी जी कहते हैं कि राजनीति धर्मानुमोदित हो, तो वह योरोप की मध्ययुगीन स्थिति को लाकर धार्मिक संस्थाओं, पोप–पादरियों, मौलिवियों अथवा पण्डितों के हाथ में राज्य सत्ता नहीं सौंपना चाहते हैं और यह भी नहीं चाहते हैं कि राज्य धर्म या किसी विशेष सम्प्रदाय का प्रचारक बन जाए और अधिक–से–अधिक लोगों को अपने धर्म में परिवर्तित करे। उनकी आदर्श सर्वोदय–समाज–व्यवस्था में तो राज्य धर्मनिरपेक्ष है, जिसका आशय है कि राज्य में रहने वाले प्रत्येक नागरिक को बिना किसी बाधा के अपना धर्म–पालन करने का पूर्ण अधिकार हो–राज्य न तो किसी धर्म का संरक्षण करे और न किसी धर्म के उचित विकास में बाधक हो। संक्षेप में, राज्य का अपना कोई विशेष धर्म या सम्प्रदाय नहीं होना चाहिए, किन्तु राज्य धर्म–रहित भी न हो। राज्य को नीति–धर्म के शाश्वत और सार्वभौमिक नियमों–सत्य, अहिंसा,

1. भगवादन दास केला – राजव्यवस्था सर्वोदय की दृष्टि में, पृ0 21
2. जवाहरलाल नेहरू– राष्ट्रपिता, पृ0 39
3. वही पृ0 41

प्रेम, सेवा आदि–का पूर्ण पालन करना चाहिए। इसी प्रकार राजनीतिज्ञ सब धर्मों के प्रति समान भाव रखे तथा राजनीति या सार्वजनिक जीवन में नीति–धर्म के सार्वभौमिक मूल्यों पर अटल रहें। चूंकि प्रत्येक धर्म के आधारभूत सिद्धान्त एक ही एक प्रकार के हैं, इसलिए राजनीतिज्ञों को कोई कठिनाई न होगी।

समाजशास्त्री इञ्जर ने लिखा है कि जब राज्य किसी 'विशेष धर्म' को संरक्षण प्रदान करने लगता है, तो वह धर्म की ओट में धार्मिक सिद्धान्तों का ही खण्डन करने लगता है, अर्थात् धर्म राज्य के स्वार्थों की पूर्ति का साधन बन जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के शासकों ने राष्ट्र को युद्ध के लिए सन्नद्ध करने के लिए शिण्टो धर्म के प्रतीकों का खुल कर प्रयोग किया और यह घोषित किया गया कि जापान के समस्त युद्ध पवित्र हैं; क्योंकि ये सब दैवी राजा की सर्वोच्च आज्ञा से हो रहे हैं, जो कभी गलती नहीं कर सकता।[1]

इंग्लैण्ड ने द्वितीय विश्वयुद्ध को धर्म–युद्ध की ही संज्ञा दी थी, अपने आक्रमण को बर्बर और अनैतिक नाजियों के विरुद्ध 'पुलिस कार्यवाही' कहा था। यहां तक कि कुछ लोगों ने हिरोशिमा की ध्वंस–लीला को ईसाई नैतिकता से उचित माना था।[2] तात्पर्य यह है कि राज्य ने पूर्ण अहिंसक ईसा के सिद्धान्तों का उपयोग लाखों बेनुगाह लोगों की नृशंस हत्या के लिए किया था। गांधी जी ने धर्म का दुरुपयोग होते देख कर कहा था, ''एक प्रथम श्रेणी की करुण घटना है कि संसार की वे जातियां, जो ईसा को शान्ति का राजा कह कर उनके संदेश में विश्वास रखने का दावा रखती हैं, वास्तविक व्यवहार में उस विश्वास का परिचय नहीं देतीं। यह तो मेरी पक्की राय है कि आज का योरोप न तो ईश्वर की भावना का प्रतीक है, न ईसाई धर्म की भावना का बल्कि शैतान की भावना का प्रतीक है और शैतान की सफलता तब सबसे अधिक होती है, जब अपनी जबान पर खुदा का नाम लेकर आता है।''[3]

---

1. मिल्टन इञ्जर– रिली0 सोसा0 ऐण्ड दि इण्डिविजुअल, पृ0 284
2. इलियट एण्ड मेरिल– सोशल डिस आर्गेनाइजेशन, पृ0 715
3. गांधी–सत्य ही ईश्वर है, पृ0 132–133

इसलिए गांधी जी चाहते हैं कि राजनीति का साध्य धर्म हो, और यह धर्म सच्चा धर्म, वास्तविक मानवतावादी धर्म हो। सम्प्रदाय सदा पूर्वाग्रह, द्वेष और पाखण्ड का प्रसारक हो जाता है। जब राजनीति किसी सम्प्रदाय को अंगीकार करती है, तो वह उसे साधन बनाती है, उसे अपने स्वार्थों के अनुसार मोड़ लेती है। गांधी जी की दृष्टि में धर्म राजनीति का साधन नहीं, साध्य है।

जब राजनीति में धर्म–पालन को लक्ष्य मान लिया जाएगा, तो राजनीतिज्ञों को सच्चा धार्मिक बनना पड़ेगा, अनासक्त योगी बनना पड़ेगा, निष्काम कर्मी होना होगा, राजनीति को यज्ञ–कर्म के रूप में स्वीकार करना होगा। ''यज्ञ का अर्थ है इस लोक या परलोक में किसी भी बदले की इच्छा के बिना परार्थ (दूसरे के लिए) किया हुआ कुछ भी शुभ कर्म जो शरीर से, मन से या वाणी से हो सकता है। कर्म का विशाल से विशाल अर्थ लेना चाहिए। 'पर' का अर्थ सिर्फ मनुष्य वर्ग नहीं, बल्कि तमाम जीव।''[1] तात्पर्य यह है कि राजनीति सर्वभूतहित से किया गया निष्काम कर्म का क्षेत्र है।

गांधी जी ने भारतीय स्वतन्त्रता–संग्राम के लिए जो राजनीतिक कार्यकर्ता तैयार किए थे, उन्हें 'सत्याग्रही' की संज्ञा दी थी और उनके छोटे–छोटे आचरण को नियन्त्रित करने के लिए व्रत निर्धारित किए थे। उनका निर्देश था कि प्रत्येक कार्यकर्ता इन नियमों या व्रतों का पालन करे। ये व्रत थे–सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यता–निवारण, कायिक श्रम, सर्व धर्म समभाव, स्वदेशी आदि। इन व्रतों को पालन करते हुए राजनीतिक कार्य करने वाले की पदलोलुपता, स्वार्थपरता, छल, प्रपंच, अन्याय, अत्याचार आदि वर्तमान राजनीति के प्रचलित उपायों को त्यागना होगा, और उन पद्धतियों और प्रवृत्तियों को अधिक–से–अधिक प्रोत्साहन देना होगा, जिनसे समाज में वास्तविक शान्ति–व्यवस्था

---

1. गांधी– गीताबोध, पृ0 17

स्थापित हो, संगठन और एकता को बल मिले और समाज के अधिकांश लोगों का ही नहीं अपितु समस्त लोगों का यथासम्भव अधिकतम विकास हो।

वस्तुतः गांधी जी की धर्म की अवधारणा जार्ज सिमेल, वेबर, डुरखीम आदि प्रख्यात समाजशास्त्रियों की अवधारणा के अनुरूप है। जार्ज सिमेल के अनुसार धर्म सामाजिक एकता की अवधारणा की उच्चतम अभिव्यक्ति है।[1] डुरखीम और वेबर भी धर्म को मानव–समाज को संगठित और एकीकृत करने वाला तत्त्व मानते हैं।[2] जब गांधी जी धर्म का सामाजिक क्षेत्र में उपयोग करते हैं, तो वह भी इसी परिप्रेक्ष्य से प्रेरित हैं। जब वह राजनीति का आध्यात्मीकरण करने को कहते हैं, तो वह राजनीति से विग्रह, विघटन, विद्रोह और विनाश की प्रवृत्तियों का उन्मूलन करना चाहते हैं तथा सद्भावना, सहयोग, समन्वय तथा संगठन के तत्त्वों का अधिकतम समावेश चाहते हैं। सारांशतः गांधी की राजनीति धर्म की पूरक है।

4. धर्म और राजनीति तथा अन्य विचारक

धर्म और राजनीति के समन्वय का गांधी जी का विचार नया नहीं है। विश्व के अन्य आधुनिक युग के अनेक विचारकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है तथा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राजनीति को धर्म पर आधारित करने का प्रस्ताव रखा है।

समाजशास्त्र का जन्मदाता फ्रांसीसी विद्वान आगस्ट काम्ट राजनीतिक व्यवस्था का नैतिक और धार्मिक मूल्यों के अनुसार संचालन करने को कहता है। उसके अनुसार राजनीतिक शक्ति के लिए तीन बातें अत्यन्त आवश्यक हैं–बौद्धिक पथ–प्रदर्शन, नैतिक स्वीकृति और सामाजिक नियन्त्रण। उसने ऐसे आदर्श बौद्धिक पुरोहितों की कल्पना की है जो राज्य के कार्यों का नैतिकता के आधार पर निर्देशन करेंगे। काम्ट का विश्वास है कि नैतिक निर्देशन

---

1. जार्ज सिमेल– सोसियोलाजी आफ रिलीजन, पृ0 9
2. वही, पृ0 8

और पथ–प्रदर्शन में निरंकुश राजनीति का अन्त हो जाएगा।[1] इंग्लैण्ड के समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेंसर ने करीब सौ वर्षों पूर्व ही यह अनुभव किया था कि राजनीति में नीति की उपेक्षा के कारण राज्य के कार्यों में अक्षमता का बहुत समावेश हो गया है, जिससे समाज में अनेक जटिल समस्याएं उत्पन्न हो गई हैं। उसका मत था कि राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए है कि समाज में अनैतिकता का अस्तित्व है। यदि समाज में अनैतिकता न हो, तो समाज में कोई बुराई न रहेगी और राज्य की आवश्यकता भी न रहेगी।[2] पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में आदर्शवादी या नैतिकतावादी राजनीतिक विचारक टामस हिल ग्रीन, एफ.एच. ब्रैडले, बी. बोसंके. अर्नेस्ट बार्कर आदि राजनीति में नैतिकता का पूर्ण समर्थन करते हैं। उनका मुख्य सूत्र ही है कि राज्य नैतिक है और व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक है। बर्ट्रेण्ड रसेल, हेराल्ड जे0 लास्की भी अप्रत्यक्ष रूप से राजनीति में नैतिकता का समर्थन करते हैं। रसेल महोदय ने लिखा है, ''राजनीति में भी और निजी जीवन में भी सर्वोच्च सिद्धान्त यही होना चाहिए कि जो कुछ भी सृजनात्मक है, उसे बढ़ावा दिया जाए, और स्वामित्व पर आधारित आवेगों और इच्छाओं को कम किया जाए।''[3] लास्की मानवतावाद और विश्वबन्धुता का समर्थक तथा ग्रीन की नैतिक चेतना से प्रभावित होने के कारण राजनीति में नैतिक मूल्यों का समर्थन करता है। डा0 सोरोकिन ने लिखा है, ''राज्यों पर, जिनमें विश्वराज्य और उनकी सरकारें भी शामिल हैं, वे ही सार्वभौमिक नैतिक, वैध आदेश लागू होने चाहिए, जो व्यक्तियों और वैयक्तिक संस्थाओं पर लागू होते हैं। वे इन सार्वभौमिक नैतिक और वैध आदेशों से परे नहीं माने जाने चाहिए। उनकी अस्तित्व–रक्षा के लिए नग्न कूटनीति की मानवद्रोही नीति समाप्त हो जानी चाहिए।''[4]

---

1. शम्भूरत्न त्रिपाठी– सामाजिक विचारों का इतिहास
2. वहीं
3. बट्रेण्ड रसेल– सामाजिक पुनर्निर्माण के सिद्धान्त, पृ0 197
4. पिटरिम सोरोकिन– मानव की नवरचना, पृ0 204

सारांश यह है कि विश्व के अनेक प्रमुख राजनीतिशास्त्री और समाजशास्त्री राजनीति के सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों और आदर्शों पर आश्रित होने में ही मानवता का कल्याण अनुभव करते हैं और जब गांधी जी राजनीति को धर्म के अधीन करने को कहते हैं, तो वह इन पूर्ववर्ती परवर्ती या समकालीन सिद्धान्तशास्त्रियों का कम से कम इस सम्बन्ध में समर्थन ही करते है अथवा यों कहें कि इस सन्दर्भ में गांधी जी तथा इन विचारकों के मत में सादृश्य है।

5. धार्मिक राजनीति : सिद्धान्त और व्यवहार

विश्व के अधिकांश भागों में कम से कम राजनीति के क्षेत्र में सिद्धान्त और व्यवहार के बीच बड़ी खाई देखने को मिलती है। प्रायः व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में सद्सिद्धान्तों की ओर ध्यान नही नहीं दिया जाता है। केवल किसी प्रकार से सत्ता प्राप्त करने या लक्ष्य–पूर्ति करने का प्रयास किया जाता है। यदि व्यावहारिक राजनीतिज्ञ कभी किसी सद्सिद्धान्त की दुहाई देता है, तो अधिकांशतः उसकी 'बगुला भगत' की सी एक चाल होती है। यही कारण था कि जब गांधी जी ने राजनीति को धार्मिक बनाने की बात कही थी तो सबको आश्चर्य हुआ था।

गांधी जी मूलतः सत्य और अहिंसा के अटल उपासक थे। वह पहले धार्मिक और फिर राजनीतिज्ञ थे। डा0 राधाकृष्णन् के अनुसार वह सत्य के लिए राजनीति क्या भारत को न्योछावर कर सकते थे। अतः वह राजनीति में पड़ने पर नीतिधर्म या नैतिकता को नहीं छोड़ सकते थे और न किसी दशा में ऐसा उचित समझते थे। अधिकांश धार्मिक लोग धर्म के आवरण में राजनीतिज्ञ होते हैं; किन्तु गांधी जी राजनीतिज्ञ के रूप में धार्मिक थे। उन्होंने स्वयं कहा था, "मैं जितने धार्मिक पुरुषों से मिला हूँ, उनमें अधिकतर को मैंने छद्मवेश में राजनीतिज्ञ ही पाया; किन्तु मैं राजनीतिज्ञ का वेश धारण करके भी हृदय से धार्मिक हूँ।"

गांधी जी मन, वचन और कर्म से धार्मिक–आध्यात्मिक थे, अतः राजनीति में भी उन्होंने सफल प्रयोग करके प्रदर्शित कर दिया कि धार्मिक राजनीति का सिद्धान्त अव्यावहारिक नहीं है, अपितु पूर्ण व्यावहारिक है।[1] धार्मिक और आध्यात्मिक विचार के लोगों के लिए राजनीति में सफलता सम्भव है। वह अपना राजनीतिक गुरु श्री गोपालकृष्ण गोखले को मानते थे। उनसे उन्होंने शिक्षा ग्रहण की थी कि राजनीति में यथार्थ सफलता राजनीति को आध्यात्मिक और धार्मिक बनाने से हो सकती है। वह गोखले को सफल राजनीतिज्ञ मानते थे तथा उनकी सफलता का आधार उनकी आध्यात्मिकता को मानते थे। उन्होंने 1915 में बंगलौर में गोखले के चित्र का अनावरण करते हुए कहा था, गोखले ने हमें शिक्षा दी है कि देशभक्ति का दावा करके वाले ''प्रत्येक भारतीय का स्वप्न, भाषा द्वारा देश का गौरव बढ़ाने की अपेक्षा देश के राजनीतिक जीवन और संस्थाओं का आध्यात्मीकरण करना, होना चाहिए। उन्होंने मेरे जीवन को अनुप्राणित किया तथा आज भी प्रेरित कर रहे हैं, जिससे मैं अपने को शुद्ध करने तथा अपना आध्यात्मीकरण करने का प्रयास कर रहा हूँ। मैंने अपने को उस आदर्श के लिए अर्पित कर दिया है।''[2] तात्पर्य यह है कि गांधी जी के लिए राजनीति के आध्यात्मीकरण की बात कल्पना या अव्यवहार्य नहीं थी; क्योंकि उनके समक्ष गोखले जी का शुद्ध राजनीतिक जीवन एक ज्वलन्त उदाहरण के रूप में प्रस्तुत था। जो प्रयोग गोखले जी ने एक सीमित क्षेत्र में किया था, गांधी जी ने उसे ही दक्षिणी अफ्रीका तथा भारत के विस्तृत क्षेत्र में किया। गोखले जी अपने जीवन में अपने अधिक अनुयायी नहीं बना सके; किन्तु गांधी जी ने जनसमूहों को किसी सीमा तक प्रशिक्षित किया तथा विश्व के राजनीतिज्ञों का मार्गदर्शन किया, राजनीति के क्षेत्र में जिसे असम्भव कहा जाता था, उसे उन्होंने सम्भव कर दिखाया। उन्होंने सत्य, अहिंसा आदि धार्मिक–नैतिक सिद्धान्तों का केवल वैयक्तिक ही नहीं सामूहिक क्षेत्र में सफलतापूर्वक प्रयोग किया। उनकी सफलताओं को संसार के राजनीतिज्ञों ने आश्चर्य और श्रद्धा से स्वीकार

---

1. गांधी–गोखले माई पालिटिकल गुरु, पृ0 50
2. वही पृ0 59

किया है। अमरीका के प्रसिद्ध वकील और अर्थशास्त्री रिचर्ड बी0 ग्रेग ने गांधी जी की राजनीतिक पद्धति –सत्याग्रह– की सफलता का मूल्यांकन करते हुए लिखा है, ''इस आधुनिक युग में गांधी जी ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस सिद्धान्त को विकसित किया है और संगठित सामूहिक रूप से बड़े आन्दोलनों में उसका प्रयोग किया और अनेक कठिन परिस्थितियों में भी वास्तविक सफल लड़ाइयां लड़ कर इस सिद्धान्त के विस्तार को सिद्ध कर दिखाया।'' प्रो0 अल्बर्ट आइन्सटीन ने कहा था, ''गांधी जी ने सिद्ध कर दिया कि केवल प्रचलित राजनीतिक चालबाजियों और धोखधड़ियों के मक्कारी–भरे खेल के द्वारा ही नहीं, बल्कि जीवन के नैतिकतापूर्ण श्रेष्ठतर आचरण के प्रबल उदाहरण द्वारा भी मनुष्यों का एक बलशाली अनुगामी दल एकत्र किया जा सकता है।'' लुई फिशर के अनुसार ''गांधी जी ने सिद्ध कर दिया कि ईसा तथा ईसाई पादरियों और बुद्ध का और कुछ इबरानी पैगम्बरों और यूनानी ज्ञानियों का अध्यात्म आधुनिक समय में तथा आधुनिक राजनीति पर प्रयुक्त हो सकता है।'' अमेरिका के समाजवादी दल के नेता ने अमेरिकावासियों को सलाह दी है कि जैसे गांधी जी ने बीसवीं शताब्दी में राजनीति और नैतिकता का सफल और प्रभावकारी समन्वय किया है, उसी प्रकार हमें भी करना चाहिए।

9

गांधी : धर्म और अर्थ

1. प्रारम्भिक

समाजशास्त्रियों का निष्कर्ष है कि धार्मिक विचार, आदर्श और संस्थाएं समाज की अर्थ–व्यवस्था को ज्ञात–अज्ञात रूप में प्रभावित करती रही हैं और आज भी कर रही हैं तथा भविष्य में भी ऐसी कोई सम्भावना नहीं है कि अर्थ–व्यवस्था धर्म के प्रभाव से मुक्त हो जाएगी।[1] विज्ञान और औद्योगिकी कितनी ही प्रगति कर लें, किन्तु वे धर्म का उन्मूलन नहीं कर सकती हैं। यदि धर्म का अस्तित्व रहेगा, तो उसका समाज की विभिन्न संस्थाओं–जिनमें आर्थिक संस्थाएं भी हैं– पर निश्चित प्रभाव पड़ेगा। जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर ने धर्म और अर्थ व्यवस्था के पारस्परिक सम्बन्ध का अत्यन्त विशद और अनुसन्धानपूर्ण अनुशीलन किया है। उसने विश्व के प्रमुख धर्मों–कनफ्यूसियस, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, यहूदी आदि धर्मों का अध्ययन किया है और साथ–ही–साथ इन धर्मों के मानने वालों के आर्थिक जीवन का भी सूक्ष्म विश्लेषण किया है।[2] इन अध्ययनों में धर्म और अर्थ को परस्पर सम्बन्धित करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि आर्थिक नीतिशास्त्र के निर्माण में धर्म बहुत प्रभावशाली कारक होता है। उसका मत है कि आधुनिक पूँजीवाद प्रोटेस्टेण्ट धर्म के प्रमुख प्रभाव से उत्पन्न हुआ है तथा इसकी आत्मा पूर्णतयः प्रोटेस्टेण्टवादी है।[3] हिन्दुस्तान की आर्थिक अप्रगति के लिए हिन्दू और बौद्ध धर्म की पारलौकिक विचारधारा को प्रमुख माना है।

इसी प्रकार उसने अन्य देशों की आर्थिक संरचना और उनके धर्मों में सम्बन्ध स्थापित किया है।

---

1. किंग्सले डेविस – ह्यूमन सोसाइटी, पृ0 542
2. शम्भूरत्न त्रिपाठी – सामाजिक विचारों का इतिहास, पृ0 294–312
3. मैक्सवेबर – प्रोटेस्टेण्ट इथिक एण्ड दि स्प्रिट आफ कैपिटलिज्म, पृ0 166, 83

भारत के प्राचीन समाजशास्त्रियों ने अर्थ को धर्म के अधीन ही रखा है। उनके विचार के अनुसार मानव व्यक्तित्त्व के विकास और समाज के निर्माण के लिए धर्म, अर्थ, काम के समन्वय की आवश्यकता है।

गांधी जी ने अर्थ और धर्म के वैज्ञानिक सम्बन्ध को अनुभव किया है—वह धर्म और अर्थ को अन्योन्याश्रित मानते हैं।

2. अर्थ और धर्म—पालन

गांधी जी एक ओर यह मानते हैं कि सुई की नोक से ऊंट का निकल जाना सम्भव है, किन्तु धनवान का ईश्वर के निकट पहुँचना सम्भव नहीं है; और दूसरी ओर कहते हैं कि गरीबों के पास ईश्वर का सन्देश ले जाना कुत्ते के सामने ईश्वर चर्चा करने के समान है। साधारण रूप में, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी प्रतीत होती हैं ; किन्तु वास्तविकता यह नहीं है।

गांधी जी व्यावहारिक अर्थ—दर्शन में विश्वास करते हैं, संतुलित धर्म—दर्शन में आस्था रखते हैं, मानवतावादी समाज—दर्शन को उचित समझते हैं। उनका मत है कि मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करना समाज का धर्म है। यदि व्यक्ति की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती है, तो वह आध्यात्म और तत्त्व—मीमांसा की बातों की ओर ध्यान नहीं दे सकता है, भूखा—नंगा रह कर ईश्वर—भक्त नहीं हो सकता है। ''गरीबों के लिए रोटी ही अध्यात्म है। उन करोड़ों भूखों को आप और किसी तरह प्रभावित नहीं कर सकते। कोई दूसरी बात उनको आकर्षित नहीं कर सकती। हाँ, आप उनके पास भोजन लेकर जाइए, तो आपको ही अपना ईश्वर समझ लेंगे। वे कोई और विचार कर ही नहीं सकते।''[1] अभावों से पीड़ित व्यक्ति ईश्वर—द्रोही और धर्म—द्रोही हो जाता है। यदि ''हम उनसे ईश्वर की बात करेंगे तो वे आपको और मुझे राक्षस बताएंगे। अगर वे किसी ईश्वर को पहचानते हैं, तो उसके बारे

---

1. गांधी — यंग इण्डिया, पृ0 5, 27

में उनकी कल्पना यही हो सकती है कि वह लोगों को आतंकित करने वाला, दण्ड देने वाला, एक निर्दय अत्याचारी है।''[1]

अतः गांधी जी समाज में धर्म–पालन के लिए किसी सीमा तक अर्थ को अनिवार्य तत्त्व स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्होंने 'दरिद्रनारायण' की अवधारणा को अपने धार्मिक चिन्तन में प्रमुख स्थान दिया। उन्होंने कहा कि संसार में दीन–बन्धुओं के हृदय में ईश्वर का निवास होता है। अतः प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को इनकी सेवा करनी चाहिए–यही सबसे बड़ी ईश्वर–आराधना है। ''मैं उस ईश्वर के सिवा, जो लाखों मूक जनों के हृदय में निवास करता है और किसी ईश्वर को नहीं मानता। वे उसे नहीं पहचानते, पर मैं पहचानता हूँ। और मैं उस ईश्वर को जो सत्य है या उस सत्य की जो ईश्वर है इन लाखों लोगों की सेवा द्वारा ही पूजा करता हूँ।''

जब गांधी जी यह व्यक्त करते हैं कि न्यूनतम अर्थ–व्यवस्था के अभाव में धर्म–पालन सम्भव नहीं है, तो इसका आशय यह नहीं है कि वह व्यक्ति को आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर उन्मुख करते हैं। वस्तुतः वह धन को एक सीमा के आगे एक दोष मानते हैं–भौतिक सुख–सुविधाएं किसी सीमा तक आवश्यक अवश्य हैं, किन्तु आगे वे सहायक होने की अपेक्षा बाधक होती हैं ; मनुष्य को स्वार्थी, अनैतिक और अधर्मी बना देती है। अर्थ–संग्रह के मोह में फंसा हुआ व्यक्ति उचित–अनुचित का निर्णय त्याग देता है, पाप–पुण्य का विचार छोड़ देता है। संसार के समस्त धनवान दूसरों को कष्ट देकर, दूसरों का हिस्सा छीन कर, अनीति को पकड़ कर ही धनवान हुए हैं।

गांधी जी कहते हैं कि इस पृथ्वी पर ईश्वर ने सबकी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुएं उत्पन्न की हैं। यदि धनी लोग धन या वस्तुओं का अनावश्यक संग्रह न करें, तो किसी को कोई अभाव न हो।

---

1. गांधी – यंग इण्डिया, पृ0 5, 27

गांधी जी के अनुसार सच्चा धर्म त्याग और अपरिग्रह में है। जो व्यक्ति जितना अधिक भोग और परिग्रह से मुक्त होगा, वह उतना ही सच्चे सुख को अनुभव करेगा तथा मानव–सेवा की ओर अग्रसर होगा और जो जितनी अधिक सेवा करेगा, वह उतना ही अधिक ईश्वर के निकट पहुँचेगा। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अधिक–से–अधिक अपरिग्रह करना चाहिए, आवश्यकता से अधिक धन–संग्रह नहीं करना चाहिए; परार्थवादी प्रवृत्ति से परिचालित होना चाहिए।

इस प्रकार गांधी जी की धर्म की अवधारणा में धर्म और अर्थ का उचित समन्वय है, वास्तविक सन्तुलन है–अर्थ, धर्म का सहायक है और धर्म अर्थ का परिष्कारक है ; अर्थ का अभाव ईश्वर के प्रति अनास्था उत्पन्न कर देता है और धर्म का अभाव अर्थ को विष का रूप दे देता है।

3. अर्थ–व्यवस्था की मूल वृत्ति और धर्म

गांधी जी का विचार है कि आधुनिक युग में अवास्तविक या मिथ्या धर्म का प्रसार अधिक हो गया है, पाखण्ड की वृद्धि हो गई है। प्रत्येक धर्म के अनुयायी अधिकांशतः धर्म के बाह्य रूप को ही यथार्थ धर्म मान कर चल रहे हैं, साम्प्रदायिक दुराग्रहों को ईश्वर–आराधना समझ रहे हैं और धर्म की आधारभूत तत्त्वनीति का परित्याग कर चुके हैं। कुछ लोग इस पाखण्ड को देखकर धर्म से विमुख हो उठे हैं।

पाखण्ड के प्रसार, नास्तिकता के विकास तथा नीति के परित्याग से आज का मनुष्य निपट स्वार्थी मनोवृत्ति का हो गया है, अपने वास्तविक कर्त्तव्य को भूल गया है। उसने जीवन का चरम लक्ष्य भौतिकता, भोग, धन–संग्रह को बना लिया है। सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख, रुपये–पैसे का सुख लिया जाता है। ऐसा सुख प्राप्त करने के लिए नीति के नियम भंग होते हों तो इसकी ज्यादा परवाह नहीं की जाती है। इतना ही नहीं, इन भ्रमित लोगों ने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए स्वार्थी अर्थ–व्यवस्था का विकास कर लिया है तथा इसी के अनुरूप

अर्थशास्त्र की रचना करके तथाकथित वैज्ञानिक समर्थन प्रदान कर दिया है। आधुनिक अर्थशास्त्र ने मनुष्य को पैसा बटोरने का यन्त्र बना दिया है और स्नेह–सहानुभूति आदि सामाजिक सम्बन्धों की पूर्ण उपेक्षा कर दी है। ''लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह–सहानुभूति तो एक आकस्मिक वस्तु है, और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गति में बाधा पहुँचाने वाली मानी जानी चाहिए ; परन्तु लोभ और आगे बढ़ने वाली इच्छा सदा बने रहने वाली वृत्तियां हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रख कर मनुष्य को पैसा बटोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस प्रकार के लेन–देन के रोजगार से आदमी अधिक–से–अधिक धन एकत्र कर सकता है।''[1] इस अर्थशास्त्र के अनुसार जिसके पास जितना अधिक धन है, वह उतना ही सुखी माना जाता है। फलतः समाज में स्नेह, सहानुभूति और नीति की उपेक्षा करके मनुष्य अधिक–से–अधिक धन एकत्र करके सुखी बनने के लिए आतुर हो रहा है, मानवीय भावना की उपेक्षा करके अनुचित–उचित उपायों का अनुसरण कर रहा है, एक–दूसरे को कष्ट पहुँचा रहा है। इस प्रकार की अर्थ–व्यवस्था सदा राष्ट्र के लिए हानिप्रद होती है–इससे धनी थोड़े लोग हो पाते हैं ओर दुखियों गरीबों की संख्या बहुत अधिक हो जाती है। धनी विलासिता में फंस कर अपना पतन करते हैं और गरीब धनी बन कर सुख भोगने की लालसा में असामाजिक उपायों का अनुसरण करने लगते हैं, जिससे समाज की शान्ति भंग होती है और व्यापक रूप में अधर्म और अनीति का प्रसार होता है, सुख का अन्त होता है। गांधी जी कहते हैं कि आधुनिक अन्यायपूर्ण और अनैतिक अर्थ–व्यवस्था के कारण ही संसार में भुखमरी, बेकारी, मानसिक अशान्ति, संघर्ष, युद्ध आदि व्याधियों का आधिक्य है।

इसका तात्पर्य है कि गांधी जी के अनुसार, यदि मनुष्यों के आचरण में नैतिक–धार्मिक स्तर और मूल्यों का ह्रास होता है, तो आर्थिक–व्यवस्था का संतुलन भंग होता है, उसका

---

1. गांधी – सर्वोदय, पृ0 1–2

विघटन और विनाश होता है और अन्ततः अधिकांश को दुःख प्राप्त होता है, और यदि अर्थ–व्यवस्था असन्तुलित होती है, तो अधर्म और अनीति का प्रसार होना अनिवार्य होता है। इसीलिए गांधी जी एक ओर आर्थिक विषमता दूर करने को कहते हैं, दरिद्रनारायण की सेवा करने को कहते हैं और दूसरी ओर आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों पर निष्ठा रखने पर भी जोर देते हैं और स्वार्थीवृत्ति को त्यागकर परार्थी वृत्ति के विकास करने की भी अनिवार्य मानते हैं। आधुनिक आर्थिक संकट के निदान और समाधान का यही उनका सिद्धान्त है।

4. प्रौद्योगिकी और धर्म

प्रौद्योगिकी अर्थ–व्यवस्था का मेरुदण्ड है। साधारण–से–साधारण अर्थ–व्यवस्था में भी किसी–न–किसी प्रकार की प्रौद्योगिकी अवश्य होती है। अर्थशास्त्रियों का मत है कि जैसे–जैसे प्रौद्योगिकी का विकास होता है, वैसे–वैसे अर्थ–व्यवस्था का भी विकास होता है। मनुष्य की सुख–समृद्धि में वृद्धि होती है।

गांधी जी का मत इसके विपरीत है। उनके अनुसार प्रौद्योगिकी आवश्यक अवश्य है, किन्तु इसके अत्यधिक विकास से मनुष्य का अहित होता है–शोषण की वृद्धि होती है, बेकारी का प्रसार होता है, नैतिक मूल्य का ह्रास होता है, मनुष्य के व्यक्तित्त्व का विघटन होता है, अल्प संख्यक लोगों के स्वार्थों के लिए बहुसंख्यक लोगों को कष्ट होता है। गांधी जी का धर्म मानवतावादी और नैतिकतावादी है। अतः वह अर्थ–व्यवस्था के किसी ऐसे तत्त्व को उचित नहीं मानते, जिसमें मनुष्य का नैतिक और आध्यात्मिक विकास अवरुद्ध हो, हिंसा फैले, दुःख–दैन्य का प्रसार हो। निश्चित मत है कि आधुनिक प्रौद्योगिकी से उत्पन्न उद्योगवाद मानव–जाति के लिए अभिशाप बन गया है; क्योंकि उद्योगवाद सर्वथा इस बात पर निर्भर है कि आप में शोषण करने की कितनी शक्ति है, विदेशी मंडियां आपके लिए कहां तक खुली हैं और प्रतिस्पर्धियों का

कितना अभाव है।[1] औद्योगीकरण मुट्ठी भर लोगों के हाथ में उत्पादन और वितरण को केन्द्रित कर देता है और अन्ततः प्रतिस्पर्धा और हिंसा की वृद्धि करता है। '' औद्योगीकरण और बड़े पैमाने वाले उत्पादन का विकास हाल में हुआ है। हम नहीं जानते कि हमारे सुख की वृद्धि में उनका क्या हाथ है, किन्तु इतना मालूम है कि उनके पीछे हाल के विश्वयुद्ध अवश्य हैं।''[2] इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में प्रौद्योगिकी ने मनुष्य को हिंसक, स्वार्थी, शोषक बनाया है। गांधी जी के नीतिधर्म के अनुसार प्रौद्योगिकी के ये परिणाम अनैतिक, अधार्मिक हैं, अतः प्रौद्योगिकी अग्राह्य और त्याज्य हैं। ''आदर्श रूप में मैं सारे यन्त्रों का वैसे ही त्याग करना चाहूंगा, जैसे मैं इस शरीर का भी त्याग कर दूंगा, जो मोक्ष में सहायक नहीं है और आत्मा की सम्पूर्ण मुक्ति के लिए प्रयत्न करूंगा। इस दृष्टिकोण से मैं सब प्रकार के यन्त्रों का बहिष्कार करूंगा; परन्तु यन्त्र तो रहेंगे; क्योंकि शरीर की भांति वे भी अनिवार्य हैं। जैसा मैंने आपको बताया, शरीर खुद एक विशुद्ध यन्त्र है; परन्तु यदि वह आत्मा की ऊँची–से–ऊँची उड़ान में बाधक हो, तो उसे छोड़ देना पड़ता है।''[3]

5. आर्थिक नीति–धर्म तथा अन्य विचारक

जिस प्रकार गांधी जी यह अनुभव करते हैं कि आर्थिक–संरचना के व्यावहारिक आधार में नैतिक मूल्य होने चाहिए, उसी प्रकार विश्व के अन्य अनेक समाजवैज्ञानिक भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्वीकार करते हैं। गांधी जी का आर्थिक और धार्मिक या नैतिक नियमों की अन्योन्याश्रितता के सम्बन्ध में निष्कर्ष है कि सच्चे अर्थशास्त्र का उच्च नैतिक मानदण्ड से किसी भी दशा में विरोध नहीं होता। ठीक इसी तरह से सच्चे नीतिशास्त्र को अगर वह किसी काम का है तो साथ–ही–साथ अच्छा अर्थशास्त्र भी होना चाहिए। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा सिखाता है और कमजोर को चूस कर बलवान को धन संग्रह करने में समर्थ बनाता है वह

---

1. गांधी– यंग इण्डिया, 12–11–31
2. गांधी– हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड, 6–12–44
3. गांधी– हिन्द स्वराज्य, प्राक्कथन से

झूठा और मनहूस विज्ञान है। वह तो मानो मृत्यु का सन्देशवाहक है। इसके विपरीत सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय का पक्ष लेता है, सबकी कमजोर–से–कमजोर तक की–समान **रूप से भलाई करता है और शालीन जीवन के लिए अनिवार्य होता है।"[1] अंग्रेज विचारक विलफ्रेड वेलक इसी आशय का मत व्यक्त करते हैं : 'इसके (वर्तमान अर्थ व्यवस्था) प्रवर्तक मानवीय** और आध्यात्मिक मूल्यों की सारी अटकल खो बैठे, यद्यपि वह ईसाई धर्म का नाम लेते रहे और कहते रहे कि उनकी समृद्धि ईश्वरीय रूपों का चिन्ह है। सच तो यह है कि अर्थशास्त्र के धर्म तथा नीति से सम्बन्ध विच्छेद के लिए अपराधी रहे, और यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अब भी चल रही है और उस समय तक चलती रहेगी जब तक एक आध्यात्मिक जागृति नहीं होती या फिर आध्यात्मिक ह्रास के कारण सभ्यता ही नहीं बैठ जाती।[2] डेनमार्क के समाजशास्त्री डा0 विंडिंग क्रूसे आज की अर्थ–व्यवस्था को पूर्णतयः स्वार्थवादी और हिंसक मानते हैं और इसके सुधार के लिए सच्चे न्याय और सच्ची नैतिकता के मूल्यों की प्रतिष्ठा का सुझाव देते हैं।[3]

---

1. गांधी– हरिजन, 9–10–37, पृ0 292
2. त्रैमासिक गांधी–मार्ग, अप्रैल, 1959, पृ0 85
3. डा0 विंडिंगक्रूसे– दि फ्यूचर कम्युनिटी, पृ0 15

10

गांधी : धार्मिक सह–अस्तित्व का सिद्धान्त

1. प्रारम्भिक

धर्म मानव–संस्कृति की महान् उपलब्धि है, और सम्प्रदाय उसकी गर्हित परिणति है। धर्म ने निरुद्देश्य आदिम मनुष्य को लक्ष्य प्रदान किया; निराशा में आशा का संचार किया, संगठन और सहयोग के लिए प्रेरित किया, पशुता और बर्बरता से ऊँचे उठाया; और, सम्प्रदाय ने निराशा–भग्नाशा का प्रसार किया, समाज को रक्तरंजित युद्ध दिए, आसुरी वृत्तियों को जाग्रता किया, मनुजता के मुख पर कालिख पोती, मनुष्य को पतनोन्मुख बनाया। प्रोटेस्टेण्ट और कैथोलिक, सिया और सुन्नी, यहूदी और ईसाई, हिन्दू और मुसलमान परस्पर धर्म के नाम पर संघर्षरत हुए, एक–दूसरे के उन्मूलन के लिए विफल प्रयत्न करते रहे तथा समाज में अशान्ति, अव्यवस्था और आतंक का राज्य फैलाते रहे। सम्प्रदायों की हठवादिता, दुराग्रह, आडम्बर, पाखण्ड, दुराचार, स्वार्थपरता ने ही मूलतः जीवन के महान् उदात्त तत्त्व धर्म के प्रति घृणा या उदासीनता का भाव उत्पन्न किया, सद्–असद् की सीमा रेखाओं पर आक्रमण किया, नैतिक–अनैतिक के भाव–बोध को विस्मृत कराया और आज मनुष्य को मानसिक अराजकता की स्थिति में पहुंचा दिया। गांधी जी कहते हैं कि जो धर्म को अफीम समझ कर घृणा करने की सलाह देते हैं, वे मतवाले हैं; और जो सम्प्रदाय को ही धर्म मानते हैं, वे भी मतवाले हैं। नास्तिकता भी व्यक्ति और समाज को शान्ति नहीं दे सकती है, और साम्प्रदायिकता भी समाज की वास्तविक प्रगति को गति नहीं दे सकती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सच्चे धर्म की प्रतिष्ठा हो। वह कहते हैं कि सिद्धान्त रूप में चूंकि ईश्वर एक है, इसलिए सम्पूर्ण विश्व के लोगों का धर्म भी एक होना चाहिए; किन्तु व्यवहार में कोई दो आदमी एक से नहीं होते हैं, और न उनकी ईश्वर की धारणा एक–सी होती, अतः मनुष्यों की भिन्न–भिन्न प्रकृति

तथा भिन्न प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण हमेशा भिन्न–भिन्न धर्म भी रहेंगे और रहें। वह चाहते हैं कि धर्म मनुष्य के लिए अनिवार्य आवश्यकता रहे और विभिन्न धर्मों का भी अस्तित्व बना रहे; किन्तु उनमें परस्पर संघर्ष न हो, एक–दूसरे के प्रति घृणा का भाव न हो, जीवन–संघर्ष का सिद्धान्त न व्यवहार किया जाए, अपितु एक–दूसरे के प्रति सहिष्णुता, सद्भावना और समादर की वृत्ति का विकास हो। गांधी जी की पारिभाषिक शब्दावली में 'सर्व–धर्म–समभाव' का स्वभाव बनना चाहिए जिसके अनुसार दूसरे धर्म भी प्रगति करें और मेरा धर्म भी आगे बढ़े, दूसरे धर्म भी अच्छे बनें और मेरा धर्म भी अच्छा बने, दूसरे धर्म भी नष्ट न हों और मेरा धर्म भी नष्ट न हो। संक्षेप में, धार्मिक क्षेत्र में धार्मिक सह–अस्तित्व के सिद्धान्त का पालन हो।

2. धार्मिक सह–अस्तित्व क्यों ?

गांधी जी इस धार्मिक सह–अस्तित्व की बात केवल इसलिए नहीं कहते हैं कि साम्प्रदायिक संघर्षों से समाज में शान्ति–व्यवस्था भंग होती है, अपितु धार्मिक सह–अस्तित्व का सिद्धान्त सत्य और अहिंसा, धर्म और नीति, विचार और विवेक की दृष्टि से यथार्थ धार्मिक प्रवृत्ति का आवश्यक ही नही, वरन् अनिवार्य अंग हैं।

उनका दृढ़ विचार है कि संसार के समस्त धर्म एक ईश्वर की प्रेरणा से उत्पन्न हुए हैं; किन्तु इनका उद्भव मनुष्य के माध्यम से हुआ है। चूंकि मनुष्य और उसकी कल्पना स्वयं में अपूर्ण है, इसलिए उसके माध्यम से प्राप्त या विकसित धर्म का अपूर्ण होना स्वाभाविक है। जब सब धर्म मनुष्य के माध्यम से ही उत्पन्न हुए हैं, तो किसी धर्म को अपनी निर्दोषता या पूर्णता का दावा नहीं करना चाहिए। यदि कोई धर्म ऐसी बात कहता है, तो उसका कथन सत्य नहीं है। वस्तुतः सब धर्मों में सत्य के तत्त्व अनिवार्य रूप से होते हैं, और सब धर्मों में कुछ–न–कुछ दोष भी होते हैं। जब किसी–न–किसी रूप में सब धर्मों में अपूर्णता विद्यमान है, तो किसी धर्म को दूसरे धर्म पर आक्षेप करने या दूसरे धर्म को हीन समझने अथवा धर्म को समाप्त करने का

विचार करना ही अनुचित है। यह भी सम्भव हो सकता है कि एक धर्म में कुछ ऐसी अच्छी बातें हों, जो दूसरे धर्म में न हों। जब कोई व्यक्ति अपने धर्म को श्रेष्ठ मानकर दूसरे धर्म को हीन समझेगा, तो उस धर्म के सद्गुणों को ग्रहण करने से वंचित रहेगा। ईश्वर पूर्ण है। प्रत्येक धर्म और व्यक्ति का आदर्श या साध्य ईश्वर की पूर्णता है। कोई व्यक्ति या धर्म पूर्ण या नितान्त निर्दोष कभी नहीं हो सकता है; किन्तु धर्म या व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि इस पूर्णता के आदर्श की ओर सदा बढ़ता रहे–यही परम कर्त्तव्य है। इस पवित्र कर्तव्य के पालन के लिए और उद्देश्य की पूर्ति के लिए दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखना ही पड़ेगा।

गांधी जी के इस सिद्धान्त का यह आशय नहीं है कि दूसरे धर्मों के प्रति समभाव या सहिष्णुता का भाव रखते समय हम उनके दोषों पर दृष्टिपात न करें या उनको भी आदरभाव से ग्रहण करें या हम अपनी निर्णायक बुद्धि का दमन कर दें। दूसरा धर्म या अपना धर्म हो, उनके दोषों या दुर्बलताओं के प्रति सजग अवश्य रहना चाहिए, किन्तु दूसरे धर्मों के दोषों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। जो उचित प्रतीत हो, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए और जो अनुचित हो, उसे छोड़ देना चाहिए। दूसरे धर्म की निन्दा या दोष–दर्शन से इसलिए भी बचना चाहिए, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि आलोचक प्रत्येक अवस्था में सही हो। सम्भव है, वह ज्ञान की सीमा या अज्ञान के कारण ही किसी धर्म के किसी गुण को दोष समझ रहा हो। यहां पर यह प्रश्न उठ सकता है कि व्यक्ति के पास सत्–असत् के निर्णय की कसौटी क्या है ? इस सम्बन्ध में गांधी जी शुद्ध हृदय, निर्मल आत्मा और संतुलित बुद्धि से काम लेने को कहते हैं। गांधी जी ने स्वयं विभिन्न धर्मों का निकट से परिचय प्राप्त किया था। उनमें जो अच्छी बातें थीं, उनकी सदा मुक्त कंठ से सराहना करते थे और जो बातें उनकी बुद्धि को उपयुक्त और उचित नहीं प्रतीत हुईं, उनसे कभी सहमत नहीं हुए। उनका जो परिप्रेक्ष्य हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में था, वही परिप्रेक्ष्य अन्य धर्मों के सम्बन्ध में रहा। वह मुसलमानों के धर्म–युद्धों या

कट्टरता तथा ईसाइयों की सर्वोपरिता या साम्प्रदायिक संघर्षों से असहमत थे और हिन्दू धर्म के पाखण्डों और साम्प्रदायिक मतभेदों को भी कभी उचित नहीं मानते थे।

गांधी जी की धार्मिक सहिष्णुता या समभावना के अन्तर्गत धर्मपरिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं। यदि किसी व्यक्ति को विभिन्न धर्मों का अनुशीलन करने पर किसी अन्य धर्म में अपने धर्म की अपेक्षा अधिक गुण दृष्टिगोचर होते हैं, तो उसे धर्म–परिवर्तन करके दूसरे धर्म को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। संसार के धर्मों के आधारभूत तत्त्व समान हैं। अपने धर्म के इन तत्त्वों को आत्मसात् करके कोई व्यक्ति ऊँचे उठ सकता है और ऐसा कोई धर्म नहीं है, जिसमें अनेक लोग अपना धर्म पालन करते हुए ऊँचे न उठे हों। अतः स्वधर्म परित्याग करके दूसरे धर्म को ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका सच्चा कर्त्तव्य यह है कि वह स्वधर्म का त्याग न करे, बल्कि अपने धर्म का परिवर्तन करे अर्थात् अपने धर्म के दोषों को दूर करे और अपना स्वयं अधिक–से–अधिक नैतिक उत्थान करे। शुद्ध धर्म तो सदा ग्राह्य और पवित्र होता है; किन्तु उसे सामाजिक परिस्थतियों से उत्पन्न अनेक अवांछनीय वस्तुएं ढक लेती हैं। सच्चे धार्मिक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि धर्म और अधर्म के विश्लेषण की क्षमता स्वयं में उत्पन्न करें। जो ग्राह्य है, उसे अंगीकार करे और जो अग्राह्य है, उसे छोड़ दें।

गांधी जी अपनी उक्त धारणा के आधार पर ईसाइयों, मुसलमानों आदि की धर्म–परिवर्तन अर्थात् दूसरे धर्म के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करने की नीति को अनुचित मानते हैं। वह कहते हैं कि धर्म तो आत्मा और हृदय से सम्बन्धित है। यदि कोई व्यक्ति अपने हृदय को शुद्ध नहीं करता है, अपने नैतिक स्तर में सुधार नहीं करता है, और केवल धर्म–परिवर्तन करता है, तो उस व्यक्ति को स्वयं को तो लाभ होता नहीं है, साथ–ही–साथ जिस समाज में सम्मिलित होता है, उसके लिए भी हितकर नहीं है। यदि व्यक्ति अपना नैतिक स्तर उच्च कर लेता है, तथा अपनी आत्मा को विचारों से मुक्त कर लेता है, तो वह ईश्वर के निकट पहुँच ही रहा है, फिर उसे धर्म–परिवर्तन की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वह कहते हैं कि यदि किसी व्यक्ति

से धर्म–परिवर्तन करने के लिए बलप्रयोग किया जाता है, तो उसे किसी भी दशा में बल के समक्ष झुकना नहीं चाहिए। यदि कोई सम्प्रदाय बलपूर्वक या लालच देकर अथवा लोगों के अज्ञान का लाभ उठाकर धर्म–परिवर्तन की योजना कार्यान्वित करता है, तो ऐसी नीति किसी भी दशा में धर्मोचित नहीं है। वह इस बात के भी पक्ष में नहीं हैं कि यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से धर्म–परिवर्तन करना चाहता है, तो उसे धर्म–परिवर्तन करने दिया जाए। ''मान लीजिए कोई ईसाई मेरे पास आता है और कहता है कि भागवत पढ़कर वह मुग्ध हो गया है और इसलिए अपने को हिन्दू घोषित करना चाहता है तो मुझे उससे कहना चाहिए–जो चीज भागवत देती है, वह बाइबिल भी देती है। तुमने अभी तक उसका पता लगाने की कोशिश नहीं की है। कोशिश करो और अच्छे ईसाई बनो।'' सारांशतः, गांधी जी धर्म–परिवर्तन को किसी भी दशा में स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि यदि किसी भी रूप में धर्म–परिवर्तन की बात को स्वीकार कर लिया जाता है, तो वहाँ सब धर्मों की समानता के सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है और फिर धार्मिक सहिष्णुता या सह–अस्तित्व के सिद्धान्त की नींव की ईंटें खिसकने लगती हैं। समाज का यह स्वभाव है कि यदि उसे किसी सिद्धान्त में कहीं भी जरा–सी भी छूट मिल जाती है, तो वह उसका दुरुपयोग करने लगता है। धर्मों का इतिहास साक्षी है कि धर्म–परिवर्तन के नाम पर अनेक अमानवीय अत्याचार किए गए हैं।

गांधी जी की इस नीति से कुछ लोग यह अनुभव कर सकते हैं कि वह व्यक्ति की भावनाओं को कुचलना चाहते हैं ; किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। यदि किसी व्यक्ति को किसी अन्य धर्म अथवा धर्मग्रन्थ से विशेष आकर्षण अनुभव होता है, तो वह उसके लिए यह परामर्श भी देते हैं कि वह व्यक्ति उस धर्म के उन आकर्षक या महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को ग्रहण कर सकता है और अपनी आत्मा का मनोनुकूल विकास कर सकता है। किसी अन्य धर्म के उदात्त तत्त्वों को अपने धर्म में समाविष्ट करना अनुचित, अनैतिक या अधार्मिक नहीं है। गांधी जी के इस विचार के कारण कुछ लोग उन्हें भ्रमरवृत्तिवाला कहते हैं और उनके धर्म को खिचड़ी–धर्म

कहते हैं। गांधी जी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं, ''किसी आदमी को भ्रमरवृत्तिवाला कहने का तो यह अर्थ हुआ कि उसका कोई धर्म ही नहीं ; परन्तु मेरा तो इतना व्यापक धर्म है कि वह ईसाइयों का–प्लीमाउथ–भ्रातृ–संघ के सदस्य तक का–और कट्टर से कट्टर मुसलमान का भी विरोध नहीं करता। इस धर्म का आधार अत्यन्त व्यापक सहिष्णुता है। मैं किसी को उसकी कट्टरता के लिए बुरा–भला नहीं कहता; क्योंकि मैं उन्हें उनके अपने दृष्टिकोण से देखने की कोशिश करता हूँ।'' वैचारिक समाज–शास्त्र (Sociology of knowledge) के व्याख्याता जर्मन विद्वान कार्ल मेनहाइम किसी विचार के अध्ययन की तटस्थ पद्धति को ही वैज्ञानिक मानते हैं और इसे ही वह परिप्रेक्ष्य(Perspective) कहते हैं। मेनहाइम वैचारिक क्षेत्र में तटस्थता और सहिष्णुता को युग की अनिवार्य आवश्यकता मानते हैं। गांधी जी धार्मिक विचारों के क्षेत्र में इसी वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के निर्माण की बात कहते हैं। इसमें सह–अस्तित्व का सिद्धान्त स्वभावतः आ जाता है और धर्म–परिवर्तन की मान्यता का कोई स्थान नहीं रहता है।

3. सह–अस्तित्व कैसे ?

जब सैद्धान्तिक रूप में यह स्वीकार कर लिया जाता है कि समाज की शान्ति और व्यवस्था तथा व्यक्ति के विकास और कल्याण के लिए धार्मिक सह–अस्तित्व का सिद्धान्त आवश्यक है, तो दूसरा प्रश्न यह उठता है कि समाज में इस सिद्धान्त का पालन कैसे हो ? इस सम्बन्ध में गांधी जी का विचार है कि कोई धर्म या सम्प्रदाय दूसरे धर्मों या सम्प्रदायों को सुधारने का प्रयत्न न करे। ''मनुष्य के आचरण के यह सुन्दर नियम हैं : 'दूसरों के काजी न बनो, नही ंतो दूसरे तुम्हारे काजी बनेंगे।' आशय स्पष्ट है कि यदि एक धर्म दूसरे धर्म को दोषपूर्ण समझकर सुधारने का प्रयत्न करेगा, तो स्वभावतः संघर्ष की सम्भावना होगी। अतः सुधार की अपेक्षा संसार के अन्य धर्मों को शुद्ध हृदय से समझने की कोशिश करनी चाहिए। अन्य धर्मों के ग्रन्थों का आदरपूर्वक अनुशीलन करना चाहिए। अनुशीलन में शब्दों को नहीं पकड़ना चाहिए, अपितु उनमें भावों पर ध्यान देना चाहिए। वह कहते हैं; शब्द जीवन का नाश

करते हैं, जब कि उनके पीछे रहा हुआ अर्थ और भावना जीवन देती है। .... ईश्वरीय ज्ञान पुस्तकों से उधार नहीं मिलता है, अपितु उसे अपने भीतर अनुभव करना पड़ता है।'' यदि इस दृष्टि से दूसरे धर्मों का परिचय प्राप्त किया जाएगा, तो सभी धर्मों में शाश्वत तत्त्व प्राप्त होंगे और उन धर्मों के प्रति आदरभाव स्वतः उत्पन्न होगा। यदि सत्य और अहिंसा की कसौटी पर अन्य धर्मों में दोष परिलक्षित हों, तो उस धर्म के प्रति अनादर भाव नहीं होना चाहिए; क्योंकि गुणों के साथ दोष तो सभी धर्मों में होते हैं। अतः अन्य धर्मों के गुणों को ग्रहण कर लेना चाहिए और दोषों को छोड़ देना चाहिए। जब अन्य धर्मों का, उनके गुणों के लिए, आदर किया जाएगा, तो दूसरे धर्म भी हमारे धर्म का आदर करेंगे। वह कहते हैं कि अन्य धर्मों या धर्म ग्रन्थों के परिचय से स्वधर्म को समझने में सहायता लेनी चाहिए, और जीवन–दृष्टि को विशाल बनाना चाहिए। उन्होंने लिखा है कि ''अन्य धर्मों के ग्रन्थों की सहायता से मैं हिन्दू–शास्त्रों के अनेक समझ में न आने वाले अंश, अधिक स्पष्ट समझ सकता हूँ।'' उनका अनुभव है कि जो अपने धर्म को भली प्रकार समझेगा और उसके अनुसार आचरण करेगा, तथा अन्य धर्मों के सद्तत्त्वों से परिचित होगा, तो उसका धर्म संकीर्ण न होकर मानवतावादी होगा; क्योंकि विश्व के समस्त धर्मों की मूलभावना समान ही अनुभव होगी और अपना धर्म अन्य धर्मों से आधारभूत रूप में भिन्न नहीं प्रतीत होगा।

गांधी जी यह अनुभव करते हैं कि सारा धार्मिक विवाद आराधना की बाह्य पद्धतियों को लेकर होता है। धर्म की बाह्य पद्धतियों में अधिकांशतः पाखण्डों, अंधविश्वासों, मिथ्या धारणाओं का बहुत अधिक समावेश हो गया है। अधिकांश धर्म बाह्य धार्मिक उपकरणों को ही वास्तविक धर्म समझ रहे हैं। अतः आवश्यकता इस बात की भी है कि प्रत्येक धर्म अपने–अपने आधारभूत सिद्धान्तों पर अधिक जोर दे, उपासना–पद्धतियों पर नहीं। कोई धर्म हिंसा, घृणा, अनीति के प्रसार का आदेश नहीं देता है; किन्तु जब धर्म अपने को बाह्य आचारों तक सीमित कर देता है, तो अनीति आदि दुर्गुण धर्म के नाम पर प्रसारित होने लगते हैं, जो धार्मिक सहिष्णुता और

सह–अस्तित्व के सिद्धान्त के लिए बाधाएं प्रस्तुत कर देते हैं। इन बाधाओं के दूर करने का एक मात्र उपाय है कि प्रत्येक धर्म में नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा हो, जिनका लक्ष्य सम्पूर्ण मानवता की सेवा करना हो। प्रत्येक धर्म मानवता की सेवा और प्रेम की बात अवश्य करता है; किन्तु व्यवहार में वह मानवता की संकुचित परिभाषा करने लगता है। वह मनुष्य की परिधि में उसी को मानते हैं, जो उनके धर्म का अनुयायी होता है। इसीलिए अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति असहिष्णुता का व्यवहार होता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक धर्म की नैतिकता सार्वभौमिक हो, मानवता विश्वव्यापी हो और प्रेम सम्पूर्ण प्राणिमात्र के प्रति हो।

4. धार्मिक सह–अस्तित्व और स्वधर्म

गांधी जी के धार्मिक सह–अस्तित्व के सिद्धान्त का यह आशय बिल्कुल नहीं है कि इस सिद्धान्त को मानने वाला अपने धर्म को अन्य धर्मों की अपेक्षा हीन समझे और उसकी उपेक्षा करे। यह सिद्धान्त केवल इस बात का बोध कराता है कि सभी धर्म अपूर्ण हैं और उस प्रकार हमारा धर्म भी अपूर्ण है; समस्त धर्मों में कुछ–न–कुछ दोष हैं और हमारा धर्म भी दोषों से मुक्त नहीं है; समस्त धर्मों में न्यूनाधिक रूप से उदात्त तत्त्व हैं और हमारा धर्म भी इनसे युक्त है। वस्तुतः सह–अस्तित्व का सिद्धान्त एक ओर स्वधर्म के प्रति भक्ति रखने के लिए कहता है, और दूसरी ओर उसके दोषों या अभावों को अनुभव करने के लिए भी प्रेरित करता है। जब यह सिद्धान्त अपने धर्म के साथ अन्य धर्मों से भी परिचित होने के लिए कहता है, तो यह धर्मानुशीलन में विज्ञान की तुलनात्मक पद्धति (Comparative method) का अनुसरण चाहता है। तुलनात्मक पद्धति प्रायः समस्त समाज–विज्ञानों में प्रयोग की जाती है। ई0 ए0 फ्रीमैन ने अपनी पुस्तक ''कम्परेटिव पालिटिक्स'' (तुलनात्मक राजनीति) में लिखा है कि अध्ययन की तुलनात्मक पद्धति की प्रतिष्ठा हमारे युग की महान्तम बौद्धिक उपलब्धियों में है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री ईमाइल डुरखीम आदि भी तुलनात्मक पद्धति की महत्ता स्वीकार करते हैं।

तुलनात्मक पद्धति से पाठकों को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि इसमें किसी को छोटा–बड़ा सिद्ध किया जाता है। वस्तुतः, विज्ञान के अन्तर्गत तुलनात्मक पद्धति में किन्हीं दो विषयों का अध्ययन नितान्त तटस्थ तथा पूर्वाग्रह–रहित होकर किया जाता है तथा उनकी समानताओं और गुण–दोषों का विश्लेषण किया जाता है। गांधी जी विज्ञान की मूल भावना से पूर्ण परिचित हैं। वह तटस्थता के तथ्य को बड़ी सुन्दर उपमा से व्यक्त करते हैं,–''जैसे एक वफादार पति को अपनी वफादारी कायम रखने के लिए दूसरी स्त्रियों को अपनी पत्नी से घटिया समझने की जरूरत नहीं होती, ठीक उसी तरह किसी धर्म के अनुयायी को यह जरूरत नहीं होती कि वह दूसरे धर्मों को अपने धर्म से घटिया समझे। जैसे अपनी पत्नी के प्रति वफादारी का यह अर्थ नहीं होता है कि हम उसकी त्रुटियों की तरफ से आंख मूंद लें, इसी तरह अपने धर्म के प्रति वफादारी का यह अर्थ नहीं होता कि उस धर्म की त्रुटियों की तरफ हम अन्धे हो जाएं।''

5. धार्मिक सह–अस्तित्व और अन्य विचारक

गांधी जी की 'सर्व धर्म–समभाव' या धार्मिक सह–अस्तित्व की अवधारणा आज के युग की मांग है। उनकी इस मान्यता से विश्व के अधिकांश प्रबुद्ध विचारक सहमत प्रतीत होते हैं। सामाजिक–दर्शन के आचार्य श्री जे0 एस0 मेकेञ्जी ने 'लन्दन स्कूल आफ इकनामिक्स एण्ड पालिटिक्स' में भाषण देते हुए कहा था, ''सामान्य निष्कर्ष स्वरूप यही कहा जा सकता है कि हम किसी धर्म को पूर्ण नहीं कह सकते, अथवा विश्व–व्यापक होने योग्य नहीं कहा जा सकता; परन्तु विभिन्न धार्मिक अथवा अधार्मिक प्रवृत्तियों में सुधार लाया जा सकता है। .... इन धर्मों में से प्रत्येक का उद्देश्य अपने सिद्धान्तों में से परम्परागत तत्त्व का उन्मूलन करना ही होना चाहिए और उन मूल तत्त्वों को मान्यता दी जानी चाहिए, जो सत्यं, शिवं, और सुन्दरं की भांति शाश्वत हों।'' मेकेञ्जी यह अनुभव करते हैं कि विभिन्न धर्मों का अस्तित्व रहना चाहिए तथा उनमें परस्पर विरोध या संघर्ष भी नहीं होना चाहिए। इसके लिए वह गांधी जी की भांति उपाय

बताते हैं कि सब धर्म अपनी कट्टरता से मुक्त हों, और आधारभूत शाश्वत मूल्यों को प्रधानता दें। डा0 पिटरिम सोरोकिन का मत है कि विश्व की शान्ति और व्यवस्था के लिए किसी विश्व–व्यापी नए धर्म के प्रचलित करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु पहले से चले आने वाले विभिन्न धर्मों की कुछ गौण बातों में परिवर्तन किया जाए, जिससे परस्पर सहयोग करते हुए मानवता की सेवा कर सकें ''जिस प्रकार भिन्न–भिन्न भाषाएं होती हैं और विभिन्न शब्दों तथा मुहावरों के द्वारा वे एक ही उद्देश्य की पूर्ति करती हैं, उसी प्रकार मानवता के लिए अनेक 'धर्म भाषाएं' हो सकती हैं।'' 'रिलीजन, सोसाइटी एण्ड इण्डिविजुअल' (धर्म, समाज और व्यक्ति) नामक पुस्तक के लेखक जे0 मिल्टन इञ्जर ने पर्याप्त शोध के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि धर्म समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है; किन्तु वर्तमान धर्मों के स्वरूप समकालीन परिस्थितियों के अनुरूप नहीं हैं; अतः इस बात की भी आवश्यकता है कि विभिन्न धर्मों में परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए आधारभूत सिद्धान्त खोजे जाएं। योगिराज अरविन्द ने अपनी 'कर्मयोगी' नामक पुस्तक में ऐसे धार्मिक जीवन को श्रेयस्कर माना है, जो असहिष्णुता से मुक्त होता हुआ भी श्रद्धा और उत्साह से भरा हुआ हो, जो एक मात्र ब्रह्म में अटल विश्वास रखने के कारण धर्म के सभी रूपों को स्वीकार करता हो।

गांधी जी ने केवल समस्या पर विचार ही नहीं किया, अपितु उसके समाधान के लिए व्यावहारिक योजना भी रखी, और केवल योजना प्रस्तुत करके ही सन्तोष नहीं किया, बल्कि योजना को व्यावहारिक रूप भी दिया। उन्होंने भारतवर्ष में अपने धार्मिक सह–अस्तित्व के सिद्धान्त के सम्बन्ध में अपने आश्रमों में सफल प्रयोग किए। उनके आश्रमों में विभिन्न धर्मों के लोग अपने–अपने धर्मों पर पूर्णनिष्ठा रखते हुए पूर्ण सहयोग और सद्भावना के साथ एक स्थान पर रहते थे, उनकी प्रार्थना–सभाओं में विभिन्न धर्मों के लोग सम्मिलित होते थे। भक्त एण्ड्रूज, जे0 सी0 कुमारप्पा, राजकुमारी अमृत कौर आदि जैसे ईसाई, अब्दुल गफ्फार खां, मौलाना आजाद जैसे मुसलमान तथा अन्य अनेक बौद्ध, जैन, पारसी धर्मावलम्बी उनकी नीति

के पूर्ण समर्थक और प्रचारक रहे। स्वतन्त्रता संग्राम में देश के विभिन्न धर्मावलम्बी सद्भावना और सहयोग से परस्पर एक सूत्र में आबद्ध हुए। यह गांधी जी के धार्मिक सह–अस्तित्व के सिद्धान्त की व्यवहारिकता का प्रमाण है।